(२)

किकता
क्षा विच
व्यक्तित

Donated by
R. L. Tiwari

भूमिका : हिन्दी-कहानी

'कहना' और 'सुनना' सामाजिकता का एक मुख्य चिह्न है। इसलिए प्रत्येक समाज के साथ 'कहानी' आदिकाल से ही जुड़ी हुई है। 'हाँ, तो फिर क्या हुआ'—इस प्रश्न का उत्तर समाज के जाने-माने लोग सदा अपनी-अपनी शैली में देते आए हैं। कहानी कहने का यह काम कहीं-कहीं दादी या नानी करती हैं तो कहीं-कहीं गुरुदेव या पंडित जी करते हैं। सबके मूल में मनुष्य की जिज्ञासा तथा सामाजिकता है।

'कहानी' की विकास-यात्रा में इसके अनेक रूप दिखलाई पड़ते हैं। उन्हीं रूपों के अनुसार 'कहानी' का नाम भी बदलता रहा है। कहानी का सब से प्राचीन साहित्यिक रूप 'कथा' है, इसको 'आख्यान' तथा 'दृष्टान्त' के रूप में भी देखा जाता है। जब किसी श्रद्धालु जिज्ञासु ने आदरणीय वक्ता के सम्मुख अपनी कोई समस्या अथवा शंका रखी तो वक्ता महोदय ने समाधान के रूप में अतीत की कोई आदर्श घटना सुना दी। 'कथा', मूलतः धार्मिक कहानी है, इसका प्राण आदर्श है। पात्रों के माध्यम से यह घटना पर आश्रित होती है। इसमें अलौकिक शक्ति, शाप-वरदान, कर्मफल, आदर्श-उपदेश प्राण के समान समाये हुए हैं। देव और दानव दोनों ही प्रकार के पात्र गुणों के प्रतिनिधि हैं, व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं। वैदिक, पौराणिक साहित्य इन कथाओं से भरा पड़ा है।

लोक में भी जिज्ञासा जगी तो 'कथा' का दूसरा अर्थात् लौकिक रूप सामने आया। जातक-कथाएँ, पंचतन्त्र, हितोपदेश इसके प्रमाण हैं।

इनमें मनुष्य के साथ-साथ प[illegible]ों को भी स्थान मिला और उनके माध्यम से ही मनुष्य के [illegible]ं भाव प्रतिपादित किये गए। प्राकृत भाषा की 'बृहत्कथा' [illegible]अरब, यूरोप तथा अफ्रीका तक पहुँची क्योंकि वह रोचक थी। [illegible]की कहानियाँ तथा अलिफ-लैला की कहानियाँ इसी लौकिक[illegible]ा के लिए प्रसिद्ध हैं। इस वर्ग में उपदेश के साथ-साथ रोचकता का भी समान महत्त्व है।

भारत में कथा का एक तीसरा रूप भी मिलता है जिसको 'धार्मिक' तथा 'लौकिक' से अलग करने के लिए 'साहित्यिक' कह सकते हैं। बाण ने 'कादम्बरी' की भूमिका में पूर्व की दो कथाओं की चर्चा की है और अपनी 'कादम्बरी' को दोनों से बढ़कर 'अतिद्वयी' कहा है। 'कथा' के साहित्यिक बनने के साथ ही 'आख्यायिका' का विकास हो गया था और साहित्यकार 'कथा' और 'आख्यायिका' को अलग-अलग समझाने का प्रयत्न कर रहे थे। बाण भट्ट ने 'कादम्बरी' 'कथा' के साथ-साथ 'हर्षचरित' 'आख्यायिका' भी लिखी और कवि-शिरोमणि बनकर प्रसिद्धि प्राप्त की।

मध्ययुग तक आते-आते कहानी के दो और रूप सामने आए। एक तो लौकिक परम्परा का ही था जो विदेशी प्रभाव से नया-सा दिखलाई पड़ा। 'किस्सा तोता-मैना' जैसे कथा-रूप संस्कृत की 'शुक सप्तति', 'वेताल पंचविशंति' तथा 'सिंहासनद्वात्रिंशतिका' की ही मध्ययुगीन छाया हैं। हाँ 'प्रेम-कहानी' अथवा 'लोक-कहानी' उस युग की अपनी उपलब्धि है। सूफियों ने यह लोक-प्रेम-कहानी कल्पित पात्रों के सहारे 'प्रेम की पीर' जगाने के लिए लिखी और लौकिक प्रेम के माध्यम से पाठक के मन में अलौकिक प्रेम की चिनगारी फेंक दी। ये कहानियाँ अवधी भाषा में दोहा-चौपाई शैली पर लिखी गई हैं, बंगला भाषा में इनका बहुत कुछ अनुकरण हुआ है।

आधुनिक कहानी

आधुनिक युग में कहानी का माध्यम गद्य तथा 'खड़ी बोली' बन गया। विदेशी प्रभाव के कारण इसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहा।

है। इसमें धार्मिकता अथवा लौकिकता का स्थान मनोविज्ञान ने ले लिया है। यह भावना की अपेक्षा विचारों का वहन अधिक करती है। इसकी रुचि उपदेश की अपेक्षा व्यक्तित्व के किसी पक्ष के उद्घाटन में है। 'अर्वाचीन कहानी' अपने को विशिष्ट कला से अलंकृत करके 'उपन्यास' से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर बैठी है। यह कहानी साहित्य का अत्यन्त विकसित एवं लोकप्रिय रूप है।

'अर्वाचीन कहानी' का जन्म पश्चिम के प्रभाव से हुआ है, प्रारम्भ में केवल अंग्रेजी प्रभाव से। अंग्रेजी में 'फिक्शन' के दो रूप अलग-अलग विकसित हो गए—'नोवेल' तथा 'शोर्ट स्टोरी'। 'नोवेल' बंग्ला तथा हिन्दी में 'उपन्यास' नाम से प्रसिद्ध हुआ, अन्य भारतीय भाषाओं में इसको 'कादम्बरी', 'नवल कथा' तथा 'नाविल' आदि कहते हैं। 'शोर्ट स्टोरी' को बंग्ला तथा हिन्दी में प्रारम्भ में 'गल्प' और फिर 'कहानी' कहने लग गए। 'उपन्यास' तथा 'कहानी' साहित्य-रूप अंग्रेजी प्रभाव तथा बंग्ला के सहयोग से हिन्दी में आए हैं, इनका स्वतन्त्र विकास बहुत पीछे हुआ है।

अंग्रेजी नाम 'शोर्ट स्टोरी' से ही यह पता लग जाता है कि 'कहानी' की मुख्य विशेषता उसका छोटा-सा आकार है, इसी गुण के कारण वह 'उपन्यास' से अलग हुई है। "जब विज्ञान ने जीवन में संघर्ष उत्पन्न कर दिया और समय का मूल्य भौतिक सिक्कों में आँका जाने लगा तो जनता को ऐसे साहित्य की आवश्यकता पड़ी जो थोड़े-से समय में ही पाठक के मन में तरंगें उत्पन्न कर दे। युग विज्ञान का था, पद्य तो किसी प्रकार अपने दिन पूरे कर रहा था, इसलिए इस साहित्य का भार गद्य के कन्धों पर आया। इधर जब विज्ञान ने मनोरंजन के अधिक सस्ते तथा अच्छे साधन प्रदान कर दिए तो इस साहित्य का क्षेत्र और भी संकुचित बन गया—अब वह विचार-वहन करने का साधन बनता जा रहा था। यही अर्वाचीन कहानी का पूर्वाभास है—संक्षेप, गद्य, तथा विचार-वहन (केवल मनोरंजन नहीं)"।

पश्चिमी कहानी राष्ट्रभेद से अलग-अलग विशेषताओं को लिए हुए है। फ्रांसीसी कहानी में रोमानीपन तथा साहसिकता को अधिक

स्थान मिला है तो रूसी कहानी मजदूर, किसान और साम्यवाद को चित्रित करती है और अमरीकी कहानी की मनोविज्ञान तथा रोमानीपन में रुचि है। वस्तुतः समकालीन राष्ट्रीय समस्या का आंशिक चित्रण आज की कहानी का प्रिय विषय है। हिन्दी में प्रेमचन्द, प्रसाद, जैनेन्द्र और यशपाल समकालीन जीवन की विविधता के लिए प्रसिद्ध हैं।

अर्वाचीन कहानी की मुख्य विशेषता इसका छोटा-सा आकार है। कहानी संक्षिप्त होनी चाहिए, 'शोर्ट' का अर्थ ही 'संक्षिप्त' है। एलेन पो का कहना है कि कहानी केवल इतनी बड़ी हो कि एक बैठक में पूरी पढ़ी जा सके।[1] एच० जी० वेल्स के अनुसार जो कहानी बीस मिनट में पढ़ी जा सके वह 'शोर्ट स्टोरी'[2] है। एल० ए० जी० स्ट्रोंग ने अन्त में यही निर्णय किया कि गद्य में लिखी हुई संक्षिप्त कथा को कहानी कहते हैं, इससे अधिक उपयुक्त[3] परिभाषा कोई और नहीं हो सकती। कहानी की अधिकतर अमरीकी पत्रिकाएँ तो कहानी का वाचन-काल तथा उसमें प्रयुक्त शब्दों की संख्या भी शीर्षक के साथ ही ऊपर लिख दिया करती हैं। आज की कहानी ऐसी एक भी घटना, एक भी पात्र, एक भी शब्द नहीं चाहती जिसके बिना काम चल सकता है।

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि पुरानी कथा को तोड़कर कई अर्वाचीन कहानियाँ बनाई जा सकती हैं अथवा किसी उपन्यास के अलग-अलग अध्याय अनेक अर्वाचीन कहानियाँ हैं। कहानी का आकार लघु होता है, बड़े आकार का एक अंग मात्र नहीं। कहानी

---

1. A short story is a narrative short enough to be read in a single sitting.
2. Any piece of short fiction which would be read in twenty minutes would be a short story.
3. To sum up : a short story is a short piece of prose fiction, we need ask on closer definition.

छोटी होने के साथ अपने आप में पूर्ण भी होती हैं। 'संक्षेप के साथ-साथ पूर्णता'[1] कहानी की कला का जीवन है। कहानीकार के सामने केवल एक दृष्टिकोण होता है, इसलिए वह केवल एक भाव, केवल एक विचार, केवल एक रहस्य, अथवा केवल एक घटना के भीतर बँध जाता है। प्रत्येक कहानीकार समकालीन जीवन को एक विशेष दृष्टि से देखता है, परन्तु फिर भी एक कहानी में वह एक से अधिक सत्यों का उद्घाटन नहीं कर सकता। प्रेमचन्द ने ग्रामीण-जीवन को अपना क्षेत्र बनाया है फिर भी उनकी कोई भी कहानी उस जीवन की एक से अधिक झाँकी प्रस्तुत नहीं करती। जो झाँकी 'बड़े घर की बेटी' में है वह 'पंचपरमेश्वर' में नहीं है, और जो 'आत्माराम' में है वह 'कफन' में नहीं मिलती—यद्यपि सभी ग्रामीण जीवन के प्रभावशाली चित्र उपस्थित करती हैं।

पुरानी कहानी वर्णन-प्रधान थी उसमें लेखक को अपनी बहुमुखी प्रतिभा के प्रदर्शन का अवसर मिलता था। उसको गद्य-काव्य कहा जा सकता है। पुरानी कहानी चित्रण करती थी, आज की कहानी लक्ष्य के अनुसार चलती है। पुरानी कहानी की सफलता विस्तार तथा निर्वाह पर निर्भर थी, आज की कहानी संक्षेप तथा संकोच को मान कर चलती है। वस्तुत: पुरानी कहानी उपन्यास थी परन्तु आज की कहानी केवल कहानी है और इसका जन्म युग की आवश्यकता के कारण हुआ है। हेनरी हडसन ने ठीक ही कहा है कि कहानी-कला की कसौटी 'उद्देश्य की अनन्यता'[2] तथा 'प्रभाव की अनन्यता' है। यदि लेखक का एकमात्र उद्देश्य पाठक पर एकमात्र प्रभाव छोड़ता है तो कहानी सफल मानी जायगी।

कहानी किसी भी विषय पर लिखी जा सकती है। लेखक का

---

1. Brevity with Completeness.
2. Singleness of aim and singleness of effects are, therefore, the two great canons by which we have to try the value of a short story as a piece of art.

व्यक्तित्व कहानी के विषय का निर्णय करता है और उसकी कला कहानी को अमर बना देती है। एच० ई० बेट्स के अनुसार कहानी इस धरती पर होने वाले किसी भी विषय पर लिखी जा सकती है, एक घोड़े की मृत्यु जैसी नीरस घटना से लेकर[1] किसी किशोरी के प्रथम प्रेम-व्यापार जैसी सरस घटना तक कहानी के क्षेत्र में आ जाते हैं। गुलेरी, प्रसाद, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, राजेन्द्र यादव सबकी कहानियों के अलग-अलग क्षेत्र हैं क्योंकि सबकी दृष्टियाँ अलग हैं। हाँ कहानी जितने सामान्य विषय पर लिखी जाएगी उतना ही उसमें अधिक निखार आ सकता है। प्रसिद्ध कहानीकार चैखव के अनुसार[2] कहानी मामूली बातों पर लिखी जानी चाहिए जैसे पीटर का मेरिया से किस प्रकार विवाह हुआ—बस इतनी मामूली-सी बात पर।

कहानी में दो अन्य बातों का भी महत्त्व है। प्रथम तो यह कि कहानी अलौकिकता का त्याग करके ठोस लौकिक धरातल पर आ गई है, यह परिस्थिति से घिरे हुए मनुष्य की अभिव्यक्ति को समझने का सबसे सरल एवं सहज प्रयत्न है। मनोविज्ञान के सूत्र, क्रिया-प्रतिक्रिया परिस्थिति-व्यक्ति-संघर्ष आदि विशेषताएँ कहानी का जीवन हैं। यदि पाठक यह अनुभव करता चले कि ऐसा ही होता है, यही सत्य है, तो कहानी सफल मानी जायगी। सहजता के कारण कहानी ने उपेक्षित समाज को अपनाने का बीड़ा उठाया है, किसान, मजदूर, नौकरीपेशा नवयुवक, पारिवारिक समस्याएँ, अनियन्त्रित प्रेम आज की कहानी का विषय बन जाते हैं।

दूसरी विशेषता है कहानी का अन्य कलाओं को त्याग देना। कहानी स्वयं एक कला है, इसको न काव्य-कला या अति साहित्यिकता की आवश्यकता है और न दूसरी ललित कलाओं के प्रसाधनों को

---

1. Any subject under the sun, from death of a horse to a young girls' first love affair.
2. One must write about simple things : how Peter married Maria : that is all.

उधार लेना है। कोई चमत्कार, कोई सौन्दर्य कोई संस्कृति आज की कहानी का अनिवार्य अंग नहीं है। न उसमें रस है और न अलंकार; न छन्द है, न संगीत; न विम्ब हैं, न अप्रस्तुत योजना; न वह ज्ञान उड़ेलती है, न अनुभूति से पाठक को दुलारती है।

आज की कहानी के आदि और अन्त भी पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं। वस्तुतः आज की कहानी का कोई अन्त नहीं होता। वह एक चिनगारी है जो चमक कर शान्त हो जाती है, न उससे आगे कुछ था और न उसके पीछे। कहानी का उद्देश्य पूरी कहानी कहना नहीं है, उसका कोई परिणाम भी नहीं होता। यही अपूर्णता कहानी की पूर्णता है। इसमें प्रबन्ध-निर्वाह तो होता ही नहीं, एक चित्र है जो थोड़ी देकर रुककर खो जाता है।

कहानी का आदि केवल एक नियम से चलता है कि उसमें आकर्षण हो। कभी वह कथोपकथन से प्रारम्भ होती है, कभी वर्णन से, कभी समस्या को प्रोजेक्ट करती है, कभी अन्तर्विरोध को। नाटकीयता से कहानी सजीव बन जाती है। रोचकता के लिए यह आवश्यक है कि वह पाठक को आदि से अन्त तक उलझाए रखे। यदि प्रारम्भ को जानकर ही अन्त का पता लग गया तो कहानी असफल हो गई। वस्तुतः आदि और अन्त तो दो किनारे मात्र हैं, पाठक को बाँध रखने का काम रोचकता का सूत्र ही करता है।

हिन्दी कहानी

साहित्य के अन्य रूपों के समान हिन्दी में आधुनिक कहानी का विकास सन् १९०० के आसपास होता है। यह महावीर प्रसाद द्विवेदी का युग एवं उनकी पत्रिका 'सरस्वती' का सेवा-काल था। इससे पहिले हिन्दी में कहानी तो थी, 'आधुनिक कहानी' नहीं। अस्तु, 'रानी केतकी की कहानी' तक की कहानियाँ 'आधुनिक कहानी' के अन्तर्गत नहीं आतीं। कहानी के विकास में तीन तत्व बड़े महत्वपूर्ण हैं। प्रथम, राजनीतिक-सामाजिक चेतना का विकास। द्वितीय, पश्चिमी साहित्य के साथ अधिकाधिक सम्पर्क। एवं तृतीय, 'सरस्वती' तथा 'इन्दु'

पत्रिकाओं का योगदान। इन तीनों में से किसी एक के अभाव में हिन्दी की आधुनिक कहानी का विकास असंभव था।

'इन्दुमती' (किशोरीलाल गोस्वामी, सन् १९००), ग्यारह वर्ष का समय' (रामचन्द्र शुक्ल, सन् १९०३), 'दुलाईवाली (बंगमहिला, सन् १९०७) तथा 'ग्राम' (जयशंकरप्रसाद, सन् १९११) हिन्दी की प्रथम कहानियाँ हैं। विद्वानों ने इन कहानियों के रचना-वर्ष को स्वीकार करते हुए भी इनमें से किसी एक को 'हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी' बतलाया है। यदि इस क्षेत्र में लेखक के सम्पूर्ण योगदान को भी ध्यान में रखा जाए तो जयशंकर प्रसाद को हिन्दी का प्रथम मौलिक कहानीकार कहा जा सकता है, उनके पाँच संग्रह प्रकाशित हुए और उनमें निरन्तर निखार आता गया। प्रसाद के बिना हिन्दी-कहानी का इतिहास पूरा नहीं हो सकता, कहानीकार रूप में भी उन्होंने हिन्दी-साहित्य को एक निश्चित समृद्धि प्रदान की है। सत्य तो यह है कि 'सरस्वती' एवं 'इन्दु' पत्रिकाएँ हिन्दी-कहानी की समृद्धि में परस्पर पूरक हैं, इन्होंने अलग-अलग प्रकार की परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण कहानियों को प्रोत्साहन दिया है।

'सरस्वती' ने जिस कहानी को विकसित किया वह यथार्थ, स्थूल, विचार-प्रधान तथा भौतिक जगत् से सम्बद्ध थी, जबकि 'इन्दु' ने आदर्श, सूक्ष्म, भाव-प्रधान एवं मानसिक जगत् की कहानी को प्रश्रय दिया। प्रेमचन्द एवं प्रसाद क्रमशः इनके प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। इन दोनों की अपनी-अपनी परम्पराएँ भी चलीं हैं। समय की गति के अनुरूप प्रेमचन्द की परम्परा अधिकाधिक लोकप्रिय होती चली गई है। इस परम्परा में कौशिक, सुदर्शन, भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि के नाम सुपरिचित हैं। प्रसाद की परम्परा में पन्त, महादेवी, हृदयेश आदि को लिया जा सकता है। इन दोनों परम्पराओं का विकास समकालीन है। इस युग में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तथा श्रीराम शर्मा की चर्चा करना आवश्यक है। गुलेरी जी की 'उसने कहा था' हिन्दी की अमर कहानी है, उन्होंने केवल दो कहानियाँ और लिखी हैं। प्रेमचन्द की अपेक्षा वे प्रसाद के अधिक निकट हैं। श्रीराम शर्मा

की ख्याति हिन्दी को शिकार एवं साहस की कहानियाँ प्रदान करने में हैं। इनको प्रेमचन्द के समीप पाया जाता है।

हिन्दी कहानी का दूसरा युग जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी के साथ प्रारम्भ होता है। इन साहित्यकारों ने हिन्दी-कहानी को चिन्तन की सूक्ष्मता की ओर मोड़ा। जोकि युगीन परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम था। जैनेन्द्र में यह सूक्ष्मता गांधीवाद का कलात्मक प्रतिफलन है, आपकी कला पश्चिम के मनोवैज्ञानिक आन्दोलनों से प्रभावित कही जा सकती है, परन्तु आपका चिन्तन गांधीवादी है, पश्चिमी कलम की प्रतिस्पर्द्धा में भारतीय अंतस् को अंकित करने का मौलिक एवं सफल प्रयास जैनेन्द्र की विशेषता है। इलाचन्द्र जोशी मनोविश्लेषण के कथाकार हैं, फ्रायड की धुरी पर रचित आपका कथा-साहित्य भारतीय वातावरण का नये आलोक में चित्रण करता है। अज्ञेय में मनोविज्ञान का 'अहं' कथा-साहित्य की शक्ति बनकर आया है, इस पर पश्चिम का पूरा एवं गहरा प्रभाव है, अज्ञेय ने हिन्दी-साहित्य को अन्त:राष्ट्रीय प्रतिध्वनि प्रदान करने का सशक्त प्रयास किया है। भगवतीचरण वर्मा इसी वर्ग की प्रवृत्ति को लेकर साहित्य के क्षेत्र में आए थे, आपका 'चित्रलेखा' उपन्यास मनोवैज्ञानिकता के कारण लोकप्रिय हुआ था, आगे चलकर आप में प्रेमचन्दीयता आती चली गई और आपका कथा-साहित्य दोनों प्रवृत्तियों का सुन्दर समन्वय कर सका।

राष्ट्रीयता एवं मनोवैज्ञानिकता के साथ-साथ प्रगतिशील आन्दोलन ने भी हिन्दी-साहित्य को प्रभावित किया, सर्जनात्मक जगत् में यह छाप कथा-साहित्य पर सबसे अधिक है। यशपाल इस धारा के प्रमुख कलाकार हैं। आपकी कहानियाँ और उपन्यास आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से उपेक्षित समाज के विद्रोह को चित्रित करते हैं, स्थूल चित्रण एवं व्यंग्य आपकी कला के अस्त्र हैं। यशपाल की चरम सफलता 'झूठा सच' उपन्यास में देखी जा सकती है, जहाँ कथाकार पूरी साहित्यिक सहानुभूति के साथ देश के विभाजन का चित्रण करता है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी-साहित्य का अनियन्त्रित विकास

हुआ। काव्य और कथा इसके मुख्य क्षेत्र रहे हैं। कहानी-साहित्य इस युग में विविधता एवं प्रचुरता की सीमा तक पहुँच गया। साथ ही कहानीकारों के अनेक आन्दोलन एवं वर्ग भी दिखलाई पड़ने लगे। राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, फणीश्वरनाथ 'रेणु', महीपसिंह मनहर चौहान, निर्मल वर्मा आदि कतिपय नाम इस क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो चुके हैं।

'नई कविता' के समान 'नई कहानी' और 'अकविता' के समान 'अकहानी' आन्दोलन इस युग की विशेषता है। साथ ही सीमित एवं विशेष क्षेत्र के चित्र ने 'आंचलिक उपन्यास' एवं 'आंचलिक कहानी' को जन्म दिया। 'सचेतन कहानी' आन्दोलन केवल कहानी के क्षेत्र तक रहा है। वस्तुत: स्वातन्त्र्योत्तर कहानी अपनी विविधता में इतनी सम्पन्न बन गई है कि इससे पूर्व की हिन्दी-कहानी इसकी पूर्वपीठिका सी लगती है। अनेक साहित्यकार ऐसे हैं जिनकी ख्याति अन्य क्षेत्रों में अधिक है, परन्तु कहानी-क्षेत्र में भी उनकी उपेक्षा संभव नहीं। और ऐसे कहानीकार भी हैं जो कथा-कहानी में सराबोर हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर कहानी की कतिपय विशेषताएँ हैं। एक ओर यह आंचलिक होती चली गई है, दूसरी ओर इसने ग्राम के स्थान पर महानगर के जीवन का चित्रण किया है। एक ओर इसमें समाज के कम प्रसिद्ध अंगों को अपना विषय बनाया है, दूसरी ओर समाज के बहुचित्रित अंगों के बदलते रूपों की इसमें झाँकी मिलती है। एक ओर इसमें पुराने मूल्यों का ह्रास है, दूसरी ओर मूल्यों के अभाव से उत्पन्न खोखलापन भी है। आज की कहानी अपने अन्तर्गत देश-विदेश को समेट रही है, इसमें सूक्ष्मता आ गई है, नई परिस्थितियों से उत्पन्न टकराव इसको आकृष्ट कर रहा है। यह कहानी प्रचार तो नहीं परन्तु उत्तरदायित्व निभाने को कटिबद्ध है। कला की दृष्टि से आज की कहानी अधिक निखरी हुई है। भाषा एवं शिल्प की दृष्टि से आज की हिन्दी-कहानी अत्यन्त विकसित है।

स्वतन्त्रता के बाद की कहानी में भी सातवें दशक की कहानी का अपना अलग स्थान है। वस्तुत: 'आधुनिक साहित्य' का एक अंग

'स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य' है, और 'स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य' का एक महत्वपूर्ण अंग 'समसामयिक साहित्य' है। कहानी को इसी सन्दर्भ में समझना चाहिए।

आज कहानी के आयाम बहुत विस्तृत हो गए हैं। आज 'वैज्ञानिक कहानियों' का अपना क्षेत्र है, तो 'सचेतन कहानी' अपने उत्तरदायित्व को निबाहती है। जिन लोगों की मातृभाषा हिन्दी नहीं है वे अपने कुछ विशेष अनुभव कहानी में चित्रित कर रहे हैं। विदेशों में बसने वाले अथवा भ्रमण करने वाले हिन्दी-कहानीकार विदेशी प्रभाव के कारण पाठकों को प्रभावित कर रहे हैं। यही विविधता एवं प्रचुरता हिन्दी-कहानी की समृद्धि का एक सबल प्रमाण है।

× × ×

प्रस्तुत संग्रह में हिन्दी-कहानी की विविधता को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आशा है कि पाठ्यक्रम की सीमा एवं प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर किया गया यह 'संगम' छात्र-वर्ग के लिए उपयोगी एवं रोचक सिद्ध होगा। प्रत्येक कहानी से पूर्व कहानीकार का परिचय एवं उस कहानी का संक्षिप्त विश्लेषण भी दे दिया गया है।

इन्द्रप्रस्थ कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

—**कैलाश प्रकाश**

१

उसने कहा था

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (१८८३—१९२० ई०) का हिन्दी कहानी, निबन्ध, समीक्षा एवं भाषाशास्त्र के विकास में विशेष योग रहा है। आपने केवल तीन कहानियाँ लिखी हैं, 'सुखमय जीवन', 'उसने कहा था', और 'बुद्धू का काँटा'। 'उसने कहा था' सन् १९१५ में 'सरस्वती' पत्रिका में छपी थी। शिल्प की दृष्टि से यह कहानी हिन्दी-साहित्य में एक विशेष स्थान प्राप्त करती है। इसमें रोमानीपन से आधुनिकता की ओर आने का प्रयत्न यथार्थ के धरातल पर किया गया है।

अमृतसर में अपने-अपने मामा के घर आने वाले दो बच्चों (एक बालक और एक बालिका) का एक-दूसरे से परिचय हो जाता है। बालक सप्राण एवं गंभीर है, बालिका गंभीर एवं घरेलू है। उस परिचय के बाद वे एक-दूसरे से बहुत दिन के लिए अलग हो जाते हैं। नियति ने उनको फिर मिला दिया। बालिका सूबेदार की पत्नी बन गई और लहनासिंह उसी रेजीमेंट में जमादार। छुट्टियाँ बिताकर जब सूबेदार और लहनासिंह लाम पर वापिस आ रहे थे, सूबेदारनी ने लहना को पहिचान लिया और उसके सामर्थ्य में विश्वास करके उससे आँचल पसार कर 'इन दोनों का बचाना' माँगा। लहना ने यह बात गाँठ बाँध ली और अपने प्राण देकर भी सूबेदार और उसके बेटे के प्राण बचाये।

इस कहानी में भारतीयों और विशेषतः सिक्खों की वीरता, बुद्धिमत्ता एवं उच्च चरित्र के साथ-साथ लहनासिंह का व्यक्तित्व उभर

कर पाठक के सामने आता है। एक सामान्य परिचय से बँधे हुए वचन को लहना जिस त्याग के द्वारा निबाहता है, वह भारतीय संस्कृति की विशेषता है। यह रीतिकालीन प्रेम नहीं है, प्रत्युत भारतीय आदर्श है; जो आँचल पसार कर माँगनेवाली नारी को वचन देता है और उस वचन का क्षत्रियोचित परम्परा से पालन करता है। इसमें 'लुच्चों' की वासना का उदात्तीकरण नहीं दिखाया गया, प्रत्युत 'दाढ़ियों वाले घरबारी सिक्ख' की गंभीर परम्परा है।

गुलेरीजी की यह कहानी हिन्दी-कथा-साहित्य के विकास की भी सूचना देती है। भाषा का विकास प्रादेशिक अभिव्यक्तियों को पचा लेने से होता है ओर साहित्य का विकास विश्वव्यापी क्षेत्र विस्तार से। लेखक ने दोनों का श्रीगणेश किया है। इस कहानी में नियति को केवल संयोग के रूप में लिया गया है। आधार बनाया है प्रथम विश्व युद्ध को। पंजाबी, अंग्रेजी और जर्मन भाषा के छींटे कहानी को रोचक बनाते हैं। युद्ध का चित्र एवं भारतीयों की सूझ-बूझ राष्ट्रीय गौरव में सहायक है। दृश्यों को सव्यवधान प्रस्तुत करने से कुतूहल की वृद्धि होती है। कहानी के आदि और अन्त दोनों ही प्रभावशाली हैं। संक्षिप्तता, पूर्णता एवं रोचकता की कसौटी पर भी यह कहानी खरी उतरती है। द्विवेदी युगीन नैतिकता इस कहानी में भी झाँक रही है।

उसने कहा था

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ी वालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गए हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्ट वालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट-सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चीथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार-भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले, तंग चक्करदार गलियों में हर एक लड्ढीवाले के लिए ठहरकर, सब्र का समुद्र उमड़ाकर, 'बचो खालसाजी', 'हटो भाईजी', 'ठहरना भाई', 'आने दो लालाजी', 'हटो बाछा'[1] कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तखों, गन्ने और खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं। चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती है। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी[2] देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा जीणे जोगिये; हट जा करमा वालिए; हट जा पुत्ताँ पयारिए; बच जा लम्बी वालिए।

---

१. बादशाह २. चेतावनी

समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिये के नीचे आना चाहती है?—बच जा।

ऐसे बम्बूकार्ट वालों के बीच में होकर एक लड़का और लड़की चौक की एक दुकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दुकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था जो सेर-भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

"तेरे घर कहाँ है?"

"मगरे में,—और तेरे?"

"माझे में—यहाँ कहाँ रहती है?"

"अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।"

"मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरुबाजार में है।"

इतने में दुकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुस्कराकर पूछा—"तेरी कुड़माई[१] हो गई?" इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जीवाले के यहाँ, या दूधवाले के यहाँ अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना-भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फि.र पूछा—"तेरी कुड़माई हो गई?" और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध, बोली—"हाँ, हो गई!"

"कब?"

"कल;—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू[२]।" लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी

---

१. सगाई २. ओढ़नी

में ढकेल दिया, एक छाबड़ीवाले[1] की दिन-भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभी वाले के ठेले में दूध उँडेल दिया, सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अंधे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

२

"राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खन्दकों में बैठे-बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाने से दस गुना जाड़ा और मेह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। गनीम कहीं दिखता नहीं—घंटे-दो-घंटे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का जलजला सुना था, यहाँ दिन में पच्चीस जलजले होते हैं। जो कहीं खन्दक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई तो चटाक से गोली लगती है; न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।"

"लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खन्दक में बिता ही दिए। परसों 'रिलीफ' आ जाएगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका[2] करेंगे और पेट-भर खाकर सो रहेंगे। उसी फिरंगी मेम के बाग में—मखमल की सी हरी घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, पर दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।"

"चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाए! फिर सात जरमनों को अकेला मारकर न लौटूँ, तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने

---

१. खोमचेवाला २. बकरे को एक झटके में काट देना ('हलाल' से विपरीत)

लगते हैं। यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—''

''नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों ?'' सूबेदार हजारासिंह ने मुस्कराकर कहा—''लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाए नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गए तो क्या होगा ?''

''सूबेदारजी, सच है।'' लहनासिंह बोला—''पर करें क्या ? हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं, और खाई में दोनों तरफ से चम्बे की बावलियों के-से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाए तो गरमी आ जाए।''

''उदमी उठ, सिगड़ी[1] में कोयले डाल। वजीरा, तुम चार जने बालटियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाज़े का पहरा बदला दे।'' यह कहते हुए सूबेदार सारी खन्दक में चक्कर लगाने लगे।

वजीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—''मैं पाधा[2] बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण !'' इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गए।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भर कर उसके हाथ में देकर कहा—''अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब-भर में नहीं मिलेगा।''

''हाँ देश क्या है, स्वर्ग है ! मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमाव ज़मीन यहीं माँग लूँगा और फलों के बूटे लगाऊँगा।''

''लाड़ी होरां[3] को भी यहाँ बुला लोगे ? या वही दूध पिलानेवाली फिरंगी मेम—''

''चुप कर। यहाँ वालों को शरम नहीं।''

---

१. अंगीठी २. ईसाई पुरोहित ३. श्रीमतीजी

"देश-देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तमाकू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुल्क के लिए लड़ेगा नहीं।"

"अच्छा, अब बोधासिंह कैसा है?"

"अच्छा है।"

"जैसे मैं जानता ही न होऊँ। रात-भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है और 'निमोनिया' से मरने वालों को मुरब्बे[1] नहीं मिला करते।"

"मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाए हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।"

वजीरासिंह ने त्यौरी चढ़ाकर कहा—"क्या मरने-मारने की बात लगाई है! मरे जर्मन और तुरक!"

"हाँ भाइयो, कुछ गाओ।"

कौन जानता था कि दाढ़ियों वाले घरबारी सिख ऐसा लुच्चों का गीत गायेंगे, पर सारी खन्दक गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गए, मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

३

दो पहर रात गई है। अँधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिंह खाली बिस्कुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर

---

१. नहर के किनारे की भूमि

और लहनासिंह के दो कम्बल और एक बरानकोट ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधासिंह के दुबले-पतले शरीर पर। बोधासिंह कराहा।

"क्यों बोधा भाई, क्या है ?"

"पानी पिला दो।"

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—"कहो, कैसे हो ?" पानी पीकर बोधा बोला—"कँपनी छूट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।"

"अच्छा, मेरी जरसी पहन लो !"

"और तुम ?"

"मेरे पास सिगड़ी है, मुझे गर्मी लगती है, पसीना आ रहा है।"

"ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिए—"

"हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सवेरे ही आई है। विलायत से मेम बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करें।" यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा।

"सच कहते हो ?"

"और नहीं झूठ !" यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता-भर पहनकर पहरे पर खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज़ आई—"सूबेदार हजारासिंह !"

"कौन ! लपटन साहब ? हुकुम हुजूर !" कहकर सूबेदार तन कर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

"देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मनी खाई है। उसमें पचास से जियादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम

यहाँ दस आदमी छोड़कर सबको अपने साथ ले उनसे जा मिलो। खन्दक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।"

"जो हुक्म।"

चुपचाप सब तैयार हो गए। बोधा भी कम्बल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बापू सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गए और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—

"लो तुम भी पियो।"

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया! मुँह का भाव छिपाकर बोला—"लाओ, साहब!" हाथ आगे करते ही सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गए और उनकी जगह कैदियों के-से कटे हुए बाल कहाँ से आ गए?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है। लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे।

"क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायेंगे?"

"लड़ाई खत्म होने पर। क्यों, क्या यह देश पसन्द नहीं?"

"नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम-आप जगाधरी जिले में शिकार करने गए थे—हाँ, हाँ—वही जब आप खोते[1] पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया

---

१. गधे

था ?" "बेशक, पाजी कहीं का" "सामने से वह नील गाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी और आप की एक गोली कंधे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नील गाय का सिर आ गया था न? आपने कहा था कि रेजिमेंट की मेस में लगायेंगे।"

"हाँ, पर मैंने वह विलायत भेज दिया।"

"ऐसे बड़े-बड़े सींग ! दो-दो फुट के होंगे !"

"हाँ लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया ?"

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ"—कहकर लहनासिंह खन्दक में घुसा। अब उसे संदेह नहीं रहा था और उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोने वाले से वह टकराया।

"कौन ? वजीरासिंह ?"

"हाँ, क्यों लहना ?" क्या कयामत आ गयी ? जरा तो आँख लग ने दी होती !"

"होश में आओ। कयामत आई है और लपटन की वर्दी पहनकर आई है।"

"क्या ?"

"लपटन साहब या तो मारे गए हैं या कैद हो गए हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा है और बातें की हैं। सौहरा[१] साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है।"

"अब मारे गए। धोखा है। सूबेदार कीचड़ में चक्कर कटाते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पलटन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गए होंगे ! सूबेदार से कहो कि एकदम

---

१. ससुरा

आवें। खन्दक की बात झूठ है चले जाओ' खन्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।"

"हुकुम तो यह है कि यहीं···"

"ऐसी-तैसी हुकुम की! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह, जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है, उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।"

"पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।"

"आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।"

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से वेल बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह खन्दक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रक्खा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने···

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब के गर्दन पर दे मारा और साहब 'आह! माइ गॉड' कहते हुए चित्त हो गए। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खन्दक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—"क्यों लपटन साहब! मिजाज़ कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नील गायें होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ से

सीख आए ? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डेम' के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।"

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानो जाड़े से बचने के लिए दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—"चालाक तो बड़े हो, पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है, उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए, एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने के तावीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनी वाले बड़े पंडित हैं। वेद पढ़-पढ़कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गए हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायेंगे तो गो-हत्या बन्द कर देंगे। मण्डी के बनियों को बहकाया था कि डाकखाने से रुपये निकाल लो, सरकार का राज्य जाने वाला है। डाक-बाबू पौल्हू राम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूँड़ दी थी और गाँव के बाहर निकाल कर कहा कि जो मेरे गाँव में अब पैर रखा तो···।"

साहब की जेब से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना के हैनरीमार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आए।

बोधा चिल्लाया—"क्या है ?"

लहनासिंह ने उसे तो यह कहकर सुला दिया कि एक हड़का हुआ कुत्ता आया था मार दिया, और औरों से सब हाल कह दिया। बन्दूकें लेकर सब तैयार हो गए। लहना ने साफा फाड़कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कसकर बाँधीं। घाव माँस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिखों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तककर मार रहा था—वह खड़ा था, और सब लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर

चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े-से मिनटों में वे…

अचानक आवाज़ आई, "वाह गुरुजी की फ़तह ! वाह गुरुजी का खालसा !" और धड़ाधड़ बन्दूकों के फ़ायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गए। पीछे से सूबेदार हज़ारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—"अकाल सिक्खाँ दी फौज आई। वाह गुरुजी दी फ़तह ! वाह गुरुजी दा खालसा ! ! सत्त सिरी अकाल पुरुष ! ! !" और लड़ाई खतम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिखों में पन्द्रह के प्राण गए। सूबेदार के दाहिने कन्धे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह के पसली में गोली लगी। उसने घाव खन्दक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाकी साफा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना के दूसरा घाव—भारी घाव लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था। ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में दन्तवीणोपदेशाचार्य कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन-भर फ्राँस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार, लहनासिंह से सारा हाल सुन, और कागज़ात पाकर, उसकी तुरन्त-बुद्धि को सराह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज़ तीन मील दाहिनी ओर की खाई वालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घंटे के अन्दर-अन्दर आ पहुँचीं। फील्ड अस्पताल नज़दीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जाएँगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाए गए और दूसरी में लाशें रखी गयीं। सूबेदार

ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कह-कर टाल दिया कि थोड़ा घाव है, सवेरे देखा जाएगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़-कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—

"तुम्हें बोधा की कसम है और सूबेदारनीजी की सौगन्ध है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।"

"और तुम ?"

"मेरे लिए वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना और जर्मन मुर्दों के लिए भी गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ। वजीरासिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा, पर—"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया। भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होरां को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उन्होंने कहा था वह मैंने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा—"तैने मेरे और बोधा के प्राण बचाए हैं। लिखना कैसा है, साथ ही चलेंगे। अपनी सूबेदारनी से तू ही कह देना। उसने क्या कहा था ?"

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा वह लिख देना और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया। "वजीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है।"

४

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म-भर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं, समय की धुन्ध बिल्कुल उन पर से हट जाती है।

लहनासिह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्जीवाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है कि तेरी कुड़-माई हो गई? तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा—"हाँ कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के बूटों वाला सालू?" सुनते ही लहनासिह को दु:ख हुआ। क्रोध हुआ।

"वजीरासिंह, पानी पिला दे।"

पच्चीस वर्ष बीत गए। अब लहनासिह नं० ७७ राइफल्स में जमादार हो गया। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकदमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजीमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है। फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिह भी लाम पर जाते हैं, लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे चाहता था। लहनासिह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे तब सूबेदार वेड़े[1] में से निकलकर आया। बोला—"लहना, सूबेदारनी तुम्हें जानती हैं! बुलाती हैं। जा मिल आ।" लहनासिह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं? कब से? रेजीमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाज़े पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिह चुप।

'मुझे पहचाना?'

'नहीं।'

'तेरी कुड़माई हो गई?—धत्—कल हो गई—देखते नहीं

---

१. जनाने

रेशमी बूटों वाला सालू—अमृतसर में—'

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

"वजीरा, पानी पिला"—उसने कहा था।

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—"मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गए। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में ज़मीन दी है, आज नमक-हलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों[१] की घघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज में भरती हुए उसे एक ही वर्ष हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी न जिया!" सूबेदारनी रोने लगी—"अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन ताँगे-वाले का घोड़ा दही वाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाए थे। आप घोड़े की लातों में चले गए थे और मुझे उठाकर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना, यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसा-रती हूँ।"

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी[२] में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

"वजीरासिंह, पानी पिला"—उसने कहा था।

लहना का सिर अपनी गोद पर रखे वजीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आधा घंटे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—

"कौन? कीरतसिंह?"

वजीरा ने समझकर कहा, "हाँ।"

---

१. स्त्रियों २. घर का भीतरी भाग

"भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्टे[1] पर मेरा सिर रख ले।"

वजीरा ने वैसा ही किया।

"हाँ, अब ठीक है, पानी पिला दे, बस अब के हाड़[2] में यह आम खूब फलेगा। चाचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही यह आम है; जिस महीने उसका जन्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।"

वजीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा--

फ्राँस और बेलजियम—६८वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

---

१. जांघ   २. आषाढ़

२

आत्माराम

1880 - 1936

प्रेमचन्द (१८८०—१९३६ ई०) का वास्तविक नाम धनपतराय था। ये उर्दू से हिन्दी में आए और अपनी ग्रामीण सचाई के कारण भारतीय साहित्य की अमर विभूति बन गए। गांधीजी के प्रभाव से प्रेमचन्द ने सरकारी नौकरी छोड़ दी और साहित्य के द्वारा ग्रामीण जीवन के उज्ज्वल पक्ष को उजागर करने में लग गए। "प्रेमचन्द की लगभग सभी कहानियों का संग्रह 'मानसरोवर' नाम से आठ भागों में सरस्वती प्रेस बनारस से प्रकाशित हो चुका है।" आपके प्रारम्भिक उपन्यास 'वरदान' तथा 'प्रतिज्ञा' हैं। 'सेवासदन' से नया युग प्रारम्भ होता है जिसमें 'प्रेमाश्रम', 'निर्मला', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'गबन', 'कर्मभूमि' तथा 'गोदान' हैं। 'मंगलसूत्र' उपन्यास अधूरा ही रह गया। 'गोदान' प्रेमचन्द की अमर रचना है, और इसका नायक 'होरी' कथा-साहित्य का अमर पात्र है। प्रेमचन्द साहित्य का अनुवाद देश-विदेश की लगभग सभी प्रसिद्ध भाषाओं में हो चुका है।

उपन्यासों के समान कहानियों में भी प्रेमचन्द ने ग्रामीण जीवन का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण किया है। विशेषता यह है कि अनेक सीमाओं के रहते हुए भी उस जीवन के प्रति पाठक के मन में आदर उत्पन्न हो जाता है। किसानों के भोले-भाले 'गँवार' जीवन में मानवता की ऊँचाई को चित्रित करना प्रेमचन्द की ईमानदारी का प्रतीक है। शताब्दियों से पिछड़ा हुआ 'गँवार' पहिली बार अपनी महानता में यहाँ प्रकाशित हुआ है। प्रेमचन्द की कहानियों में 'पंचपरमेश्वर' 'बड़े घर की बेटी', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'कफन', 'ईदगाह' 'आत्माराम', 'अलग्योझा' आदि विशेष लोकप्रिय हैं।

'आत्माराम' कहानी में महादेव सुनार एवं उसके तोते 'आत्माराम' का वर्णन है। एक ही पात्र महादेव का चित्र उभर कर सामने आता है। 'आत्माराम' तोते का सामान्य नाम है। तोते के साथ ग्रामीणों का व्यवहार अत्यन्त मर्मस्पर्शी होता है, वे उसको अपने घर का सगा समझते हैं। प्रस्तुत कहानी में आत्माराम के सम्बन्ध से महादेव की सरलता, उसका भोलापन, उसकी मानसिक शान्ति और उसका विश्वास चित्रित किया गया है।

इस कहानी की विशेषता महादेव सुनार का चरित्र-चित्रण है। आत्माराम की कहानी के साथ-साथ महादेव के चरित्र की रेखाएँ उभरती हुई सामने आने लगती हैं। इसमें पक्षी ही मानव-जीवन का साझीदार है। विपत्ति में वह शान्ति प्रदान करता है और समय आने पर सम्पत्तिदाता भी वही बन जाता है। महादेव और आत्माराम के जीवन की परिणति एक ही साथ होती है।

आत्माराम

वेदों ग्राम में महादेव सुनार एक सुविख्यात आदमी था। वह अपने सायबान में प्रातः से संध्या तक अँगीठी के सामने बैठा हुआ खट्-खट् किया करता था। यह लगातार ध्वनि सुनने के लोग इतने अभ्यस्त हो गए थे कि जब किसी कारण से वह बन्द हो जाती, तो जान पड़ता था, कोई चीज़ गायब हो गई है। वह नित्य-प्रति एक बार प्रातःकाल अपने तोते का पिंजड़ा लिए, कोई भजन गाता हुआ तालाब की ओर जाता था। उस धुँधले आकाश में उसका जर्जर शरीर, पोपला मुँह और झुकी हुई कमर देख कर किसी अपरिचित मनुष्य को उसके पिशाच होने का भ्रम हो सकता था। ज्योंही लोगों के कानों में आवाज़ आती—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता', लोग समझ जाते कि भोर हो गया।

(महादेव का पारिवारिक जीवन सुखमय न था। उसके तीन पुत्र थे, तीन बहुएँ थीं, दर्जनों नाती-पोते थे; लेकिन उसके बोझ को हलका करने वाला कोई न था) लड़के कहते—'जब तक दादा जीते हैं, हम जीवन का आनन्द भोग लें, फिर तो ढोल गले में पड़ेगा ही।' (बेचारे महादेव को कभी-कभी निराहार ही रहना पड़ता। भोजन के समय उसके घर में साम्यवाद का ऐसा गगनभेदी निर्घोष होता कि वह भूखा ही उठ आता; और नारियल का हुक्का पीता हुआ सो जाता। उसका व्यावसायिक जीवन और भी अशान्तिकारक था। (यद्यपि वह अपने काम में निपुण था; उसकी खटाई औरों से कहीं ज्यादा शुद्धि-कारक और उसकी रासायनिक क्रियाएँ कहीं ज्यादा कष्टसाध्य थीं, तथापि उसे आए-दिन शक्की और धैर्य-शून्य प्राणियों के अपशब्द सुनने

पड़ते थे। पर महादेव अविचलित गाम्भीर्य से सिर झुकाए सब कुछ सुना करता था। ज्योंही यह कलह शान्त होता, वह अपने तोते की ओर देख कर पुकार उठता—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' इस मन्त्र को जपते ही उसके चित्त को पूर्ण शान्ति प्राप्त हो जाती थी।

२

एक दिन संयोगवश किसी लड़के ने पिंजड़े का द्वार खोल दिया। तोता उड़ गया। महादेव ने सिर उठाकर जो पिंजड़े की ओर देखा, तो उसका कलेजा सन्न-सा हो गया। तोता कहाँ गया! उसने फिर पिंजड़े को देखा, तोता गायब था। महादेव घबड़ा कर उठा और इधर-उधर खपरैलों पर निगाह दौड़ाने लगा। उसे संसार में कोई वस्तु अगर प्यारी थी, तो वह यही तोता। लड़के-बालों, नाती-पोतों से उसका जी भर गया था। लड़कों की चुलबुल से उसके काम में विघ्न पड़ता था। बेटों से उसे प्रेम न था; इसलिए नहीं कि वे निकम्मे थे, बल्कि इसलिए कि उनके कारण वह अपने आनन्ददायी कुल्हड़ों की नियमित संख्या से वंचित रह जाता। पड़ोसियों से उसे चिढ़ थी, इसलिए कि वे अँगीठी से आग निकाल ले जाते थे। इन समस्त विघ्न-बाधाओं से उसके लिए कोई पनाह थी, तो वह यही तोता था। इससे उसे किसी प्रकार का कष्ट न होता था। वह अब उस अवस्था में था, जब मनुष्य को शान्तिभोग के सिवा और कोई इच्छा नहीं रहती।

तोता एक खपरैल पर बैठा था। महादेव ने पिंजरा उतार लिया और उसे दिखा कर कहने लगा—'आ आ, सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' लेकिन गाँव और घर के लड़के एकत्र होकर चिल्लाने और तालियाँ बजाने लगे। ऊपर से कौओं ने काँव-काँव की रट लगाई। तोता उड़ा और गाँव से बाहर निकल कर एक पेड़ पर जा बैठा। महादेव खाली पिंजड़ा लिए उसके पीछे दौड़ा, सो दौड़ा। लोगों को उसकी द्रुतगामिता पर अचम्भा हो रहा था। मोह की इससे सुन्दर, इससे सजीव, इससे भावमय कल्पना नहीं की जा सकती।

दोपहर हो गई; किसान लोग खेतों से चले आ रहे थे। उन्हें विनोद का अच्छा अवसर मिला। महादेव को चिढ़ाने में सभी को मज़ा आता था। किसी ने कंकड़ फेंके, किसी ने तालियाँ बजाईं; तोता फिर उड़ा और वहाँ से दूर आम के बाग में एक पेड़ की फुनगी पर जा बैठा। महादेव फिर खाली पिंजड़ा लिए मेढक की भाँति उचकता चला। बाग में पहुँचा तो पैर के तलुओं से आग निकल रही थी, सिर चक्कर खा रहा था। जब जरा सावधान हुआ, तो फिर पिंजड़ा उठा कर कहने लगा—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' तोता फुनगी से उतर कर नीचे की एक डाल पर आ बैठा; किन्तु महादेव की ओर सशंक नेत्रों से ताक रहा था। महादेव ने समझा, डर रहा है। वह पिंजड़े को छोड़ कर आप एक दूसरे पेड़ की आड़ में छिप गया। तोते ने चारों ओर गौर से देखा, निःशंक हो गया, उतरा और आकर पिंजड़े के ऊपर बैठ गया। महादेव का हृदय उछलने लगा। 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' का मन्त्र जपता हुआ धीरे-धीरे तोते के सामने आया और लपका कि तोते को पकड़ ले; किन्तु तोता हाथ न आया, फिर पेड़ पर जा बैठा।

शाम तक यही हाल रहा। तोता कभी इस डाल पर जाता, कभी उस डाल पर। कभी पिंजड़े पर आ बैठता, कभी पिंजड़े के द्वार पर बैठ अपने दाने-पानी की प्यालियों को देखता, और फिर उड़ जाता। बुड्ढा अगर मूर्तिमान मोह था, तो तोता मूर्तिमयी माया। यहाँ तक कि शाम हो गई। माया और मोह का यह संग्राम अन्धकार में विलीन हो गया।

३

रात हो गई। चारों ओर निविड़ अन्धकार छा गया। तोता न जाने पत्तों में कहाँ छिपा बैठा था। महादेव जानता था कि रात को तोता कहीं उड़ कर नहीं जा सकता, और न पिंजड़े में ही आ सकता है, फिर भी वह उस जगह से हिलने का नाम न लेता था। आज उसने

दिन-भर कुछ नहीं खाया, रात के भोजन का समय भी निकल गया, पानी की एक बूँद भी उसके कंठ में न गई; लेकिन उसे न भूख थी, न प्यास। तोते के बिना उसे अपना जीवन निस्सार, शुष्क और सूना जान पड़ता था। वह दिन-रात काम करता था, इसलिए कि यह उसकी अन्तःप्रेरणा थी; जीवन के और काम इसलिए करता था कि आदत थी। इन कामों में उसे अपनी सजीवता का लेश-मात्र भी ज्ञान न होता था। तोता ही वह वस्तु था, जो उसे चेतना की याद दिलाता था। उसका हाथ से जाना जीव का देह-त्याग करना था।

महादेव दिन-भर का भूखा-प्यासा, थका-माँदा, रह-रह कर झपकियाँ ले लेता था; किन्तु एक क्षण में फिर चौंक कर आँखें खोल देता, और उस विस्तृत अन्धकार में उसकी आवाज़ सुनाई देती—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।'

आधी रात गुजर गई थी। सहसा वह कोई आहट पा कर चौंका। देखा, एक दूसरे वृक्ष के नीचे एक धुँधला दीपक जल रहा है, और कई आदमी बैठे हुए आपस में कुछ बातें कर रहे हैं। वे सब चिलम पी रहे थें। तमाखू की महक ने उसे अधीर कर दिया। उच्च स्वर से बोला—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' और उन आदमियों की ओर चिलम पीने चला गया; किन्तु जिस प्रकार बन्दूक की आवाज़ सुनते ही हिरन भाग जाते हैं, उसी प्रकार उसे आते देख सब-के-सब उठकर भागे। कोई इधर गया, कोई उधर। महादेव चिल्लाने लगा—'ठहरो-ठहरो!' एकाएक उसे ध्यान आ गया, ये सब चोर हैं। वह चिल्ला उठा—'चोर-चोर, पकड़ो-पकड़ो!' चोरों ने पीछे फिर कर न देखा।

महादेव दीपक के पास गया, तो उसे एक कलसा रखा हुआ मिला जो मोरचे से काला हो रहा था। महादेव का हृदय उछलने लगा। उसने कलसे में हाथ डाला, तो मोहरें थीं। उसने एक मोहर बाहर निकाली और दीपक के उजाले में देखा; हाँ, मोहर थी। उसने तुरन्त कलसा उठा लिया, दीपक बुझा दिया और पेड़ के नीचे छिपकर बैठ रहा। साह से चोर बन गया।

उसे फिर शंका हुई, ऐसा न हो, चोर लौट आयें, और मुझे अकेला

देखकर मोहरें छीन लें। उसने कुछ मोहर कमर में बाँधीं, फिर एक सूखी लकड़ी से ज़मीन की मिट्टी हटाकर गड्ढे बनाए, उन्हें मोहरों से भर कर मिट्टी से ढँक दिया।

४

महादेव के अन्तर्नेत्रों के सामने अब एक दूसरा ही जगत था—चिन्ताओं और कल्पनाओं से परिपूर्ण। यद्यपि अभी कोष के हाथ से निकल जाने का भय था; पर अभिलाषाओं ने अपना काम शुरू कर दिया। एक पक्का मकान बन गया, सराफे की एक भारी दुकान खुल गई। निज सम्बन्धियों से फिर नाता जुड़ गया, विलास की सामग्रियाँ एकत्रित हो गईं। तब तीर्थ-यात्रा करने चले, और वहाँ से लौटकर बड़े समारोह से यज्ञ, ब्रह्मभोज हुआ। इसके पश्चात् एक शिवालय और कुआँ बन गया, एक बाग भी लग गया और वह नित्यप्रति कथा-पुराण सुनने लगा। साधु-सन्तों का आदर-सत्कार होने लगा।

अकस्मात् उसे ध्यान आया, कहीं चोर आ जाएँ, तो मैं भागूँगा क्यों कर? उसने परीक्षा करने के लिए कलसा उठाया, और दो सौ पग तक बेतहाशा भागता हुआ चला गया। जान पड़ता था, उसके पैरों में पर लग गए हैं; चिन्ता शान्त हो गई। इन्हीं कल्पनाओं में रात व्यतीत हो गई। उषा का आगमन हुआ, हवा जगी, चिड़ियाँ गाने लगीं। सहसा महादेव के कानों में आवाज़ आई—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरण में चित्त लागा।'

यह बोल सदैव महादेव की जिह्वा पर रहता था। दिन में सहस्रों ही बार ये शब्द उसके मुँह से निकलते थे, पर उसका धार्मिक भाव कभी उसके अन्तःकरण को स्पर्श न करता था। जैसे किसी बाजे से राग निकलता है, उसी प्रकार उसके मुँह से यह बोल निकलता था, निरर्थक और प्रभाव-शून्य। तब उसका हृदय-रूपी वृक्ष पत्र-पल्लव विहीन था। यह निर्मल वायु उसे गुँजरित न कर सकती थी; पर अब

उस वृक्ष में कोपलें और शाखाएँ निकल आई थीं। इस वायु-प्रवाह से झूम उठा, गुंजित हो गया।

अरुणोदय का समय था। प्रकृति एक अनुरागमय प्रकाश में डूबी हुई थी। उसी समय तोता पैरों को जोड़े हुए ऊँची डाल से उतरा, जैसे आकाश से कोई तारा टूटे और आकर पिंजड़े में बैठ गया। महादेव प्रफुल्लित होकर दौड़ा और पिंजड़े को उठाकर बोला—"आओ आत्माराम, तुमने कष्ट तो बहुत दिया, पर मेरा जीवन भी सफल कर दिया। अब तुम्हें चाँदी के पिंजड़े में रखूंगा और सोने से मढ़ दूंगा।" उसके रोम-रोम से परमात्मा के गुणानुवाद की ध्वनि निकलने लगी। प्रभु तुम कितने दयावान हो! यह तुम्हारा असीम वात्सल्य है, नहीं तो मुझ जैसा पापी, पतित प्राणी कब इस कृपा के योग्य था! इन पवित्र भावों से उसकी आत्मा विह्वल हो गई। वह अनुरक्त हो कर कह उठा—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरण में चित्त लागा।'

उसने एक हाथ में पिंजड़ा लटकाया, बगल में कलसा दबाया और घर चला।

५

महादेव घर पहुँचा, तो अभी कुछ अन्धेरा था। रास्ते में एक कुत्ते के सिवा और किसी से भेंट न हुई, और कुत्ते को मोहरों से विशेष प्रेम नहीं होता। उसने कलसे को एक नाद में छिपा दिया, और उसे कोयले से अच्छी तरह ढँक कर अपनी कोठरी में रख आया। जब दिन निकल आया तो वह सीधे पुरोहित के घर पहुँचा। पुरोहित पूजा पर बैठे सोच रहे थे--कल ही मुकदमे की पेशी है और अभी तक हाथ में कौड़ी भी नहीं—जजमानों में कोई साँस भी नहीं लेता। इतने में महादेव ने पालागन की। पंडित जी ने मुँह फेर लिया। यह अमंगलमूर्ति कहाँ से आ पहुँची। मालूम नहीं, दाना भी मयस्सर होगा

या नहीं। रुष्ट होकर पूछा—"क्या है जी, क्या कहते हो। जानते नहीं हम इस समय पूजा पर रहते हैं?"

महादेव ने कहा—"महाराज, आज मेरे यहाँ सत्यनारायण की कथा है।"

पुरोहित जी विस्मित हो गए। कानों पर विश्वास न हुआ। महादेव के घर कथा का होना उतनी ही असाधारण घटना थी, जितनी अपने घर से किसी भिखारी के लिए भीख निकालना। पूछा—"आज क्या है?"

महादेव बोला—"कुछ नहीं, ऐसे ही इच्छा हुई कि आज भगवान् की कथा सुन लूँ।"

प्रभात ही से तैयारी होने लगी। वेदों और निकटवर्ती गाँव में सुपारी फिरी। कथा के उपरान्त भोज का भी नेवता था। जो सुनता आश्चर्य करता—'यह आज रेत में दूब कैसे जमी!'

संध्या समय जब सब लोग जमा हो गए, और पंडित जी अपने सिंहासन पर विराजमान हुए, तो महादेव खड़ा होकर उच्च स्वर में बोला—"भाइयो, मेरी सारी उम्र छल-कपट में कट गई। मैंने न जाने कितने आदमियों को दगा दी, कितने खरे का खोटा किया; पर अब भगवान् ने मुझ पर दया की है, वह मेरे मुँह की कालिख को मिटाना चाहते हैं। मैं आप सभी भाइयों से ललकार कर कहता हूँ कि जिसका मेरे जिम्मे जो कुछ निकलता हो, जिसकी जमा मैंने मार ली हो, जिसके चोखे माल को खोटा कर दिया हो, वह आकर अपनी एक-एक कौड़ी चुका ले। अगर कोई यहाँ न आ सका हो, तो आप लोग उससे जाकर कह दीजिए, कल से एक महीने तक, जब जी चाहे, आए और अपना हिसाब चुकता कर ले। गवाही-साखी का काम नहीं।

सब लोग सन्नाटे में आ गए। कोई मार्मिक भाव से सिर हिलाकर बोला—"हम कहते न थे।" किसी ने अविश्वास से कहा—"क्या खाकर भरेगा, हज़ारों का टोटल हो जाएगा।"

एक ठाकुर ने ठिठोली की—"और जो लोग सुरधाम चले गए?"

महादेव ने उत्तर दिया—"उसके घरवाले तो होंगे!"

किन्तु इस समय लोगों को वसूली की इतनी इच्छा न थी, जितनी यह जानने की कि इसे इतना धन मिल कहाँ से गया। किसी को महादेव के पास जाने का साहस न हुआ। देहात के आदमी थे, गड़े मुर्दे उखाड़ना क्या जानें। फिर प्रायः लोगों को याद भी न था कि उन्हें महादेव से क्या पाना है, और ऐसे पवित्र अवसर पर भूल-चूक हो जाने का भय उनका मुँह बन्द किए हुए था। सबसे बड़ी बात यह थी कि महादेव की साधुता ने उन्हें वशीभूत कर लिया था।

अचानक पुरोहित जी बोले—"तुम्हें याद है, मैंने एक कंठा बनाने के लिए सोना दिया था, तुमने कई माशे तौल में उड़ा दिए थे।"

महादेव—"हाँ, याद है, आपका कितना नुकसान हुआ होगा ?"

पुरोहित—"पचास रुपये से कम न होगा।"

महादेव ने कमर से दो मोहरें निकालीं और पुरोहित जी के सामने रख दीं।

पुरोहित जी की लोलुपता पर टीकाएँ होने लगीं। यह बेईमानी है, बहुत होगा, तो दो-चार रुपये का नुकसान हुआ होगा। बेचारे से पचास रुपये ऐंठ लिए। नारायण का भी डर नहीं। बनने को पंडित, पर नियत ऐसी खराब ! राम-राम !!

लोगों को महादेव पर एक श्रद्धा-सी हो गई। एक घंटा बीत गया पर उन सहस्रों मनुष्यों में से एक भी खड़ा न हुआ। तब महादेव ने फिर कहा—"मालूम होता है, आप लोग अपना-अपना हिसाब भूल गए हैं। इसलिए आज कथा होने दीजिए। मैं एक महीने तक आपकी राह देखूँगा। इसके पीछे तीर्थयात्रा करने चला जाऊँगा। आप सब भाइयों से मेरी विनती है कि आप मेरा उद्धार करें।"

एक महीने तक महादेव लेनदारों की राह देखता रहा। रात को चोरों के भय से नींद न आती। अब वह कोई काम न करता। शराब का चसका भी छूटा। साधु-अभ्यागत जो द्वार पर आ जाते, उनका यथायोग्य सत्कार करता। दूर-दूर उसका सुयश फैल गया। यहाँ तक कि महीना पूरा हो गया, और एक आदमी भी हिसाब लेने न आया। अब महादेव को ज्ञान हुआ कि संसार में कितना धर्म, कितना

सद्व्यवहार है। अब उसे मालूम हुआ कि संसार बुरों के लिए बुरा है और अच्छों के लिए अच्छा।

६

इस घटना को हुए पचास वर्ष बीत चुके हैं। आप बेदों जाइए, तो दूर ही से एक सुनहला कलस दिखाई देता है। वह ठाकुरद्वारे का कलस है। उससे मिला हुआ एक पक्का तालाब है, जिसमें खूब कमल खिले रहते हैं। उसकी मछलियाँ कोई नहीं पकड़ता, तालाब के किनारे एक विशाल समाधि है। यही आत्माराम का स्मृति-चिह्न है, उसके सम्बन्ध में विभिन्न किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। कोई कहता है, वह रत्नजटित पिंजड़ा स्वर्ग को चला गया। कोई कहता है कि वह 'सत्त गुरुदत्त' कहता हुआ अन्तर्द्धान हो गया, पर यथार्थ यह है कि उस पक्षी रूपी चन्द्र को किसी बिल्ली-रूपी राहु ने ग्रस लिया। लोग कहते हैं, आधी रात को अभी तक तालाब के किनारे आवाज़ आती है—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरण में चित्त लागा।'

महादेव के विषय में भी कितनी ही जनश्रुतियाँ हैं। उनमें सबसे मान्य यह है कि आत्माराम के समाधिस्थ होने के बाद वह कई संन्यासियों के साथ हिमालय चला गया, और वहाँ से लौटकर न आया। उसका नाम आत्माराम प्रसिद्ध हो गया।

३

पुरस्कार

1889- 1937

जयशंकर प्रसाद (१८८९—१९३७ ई०) साहित्य में कवि एवं नाटककार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। प्राचीन साहित्य में जो स्थान तुलसीदास का है, आधुनिक साहित्य में वही स्थान जयशंकर प्रसाद को प्राप्त है। इनका 'कामायनी' महाकाव्य हिन्दी ही नहीं, समस्त आधुनिक भारतीय साहित्य की अमर विभूति है। प्रसाद छायावाद के प्रतिनिधि कवि हैं। एक दर्जन नाटक लिखकर प्रसाद ने भारतीय इतिहास के अल्पज्ञात पक्ष को प्रकाशित किया है। इन नाटकों में राष्ट्रीय इतिहास उभर कर पाठक के सामने आता है।

काव्य एवं नाटक के अतिरिक्त प्रसाद ने तीन उपन्यास (कंकाल, तितली, इरावती) एवं पाँच कहानी-संग्रह हिन्दी को प्रदान किए। इनके समीक्षात्मक एवं विवेचनात्मक निबन्ध भी प्रकाशित हो चुके हैं। कहानी के क्षेत्र में भी प्रसाद का अन्यतम स्थान है। 'इन्दु' पत्रिका द्वारा हिन्दी में एक विशेष प्रकार की कहानियाँ सामने आईं, जो प्रेमचन्द की परम्परा की पूरक हैं। 'आकाशदीप', 'ममता', 'सालवती' तथा 'पुरस्कार', कहानियाँ तो बहुत लोकप्रिय रही हैं।

'पुरस्कार' प्रसाद की प्रतिनिधि कहानी है। इसमें प्रेम का एक विचित्र द्वन्द्व चित्रित किया गया है। 'नेम (नियम) और प्रेम' का द्वन्द्व किशोर-हृदय का सबसे रोचक चित्र है। नियम सामाजिक मर्यादा एवं पारिवारिक मर्यादा है, और प्रेम किशोर हृदय की सहज भूख। "नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता, तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिचकर एक कृषक-बालिका का अपमान करने न आता।"

के प्रति आकर्षित न होता।

मधूलिका में वे संस्कार हैं जो उसे कौशल के रक्षक पिता से प्राप्त हुए थे और उसका हृदय आज कौशल के सनातन शत्रु मगध के राजकुमार के प्रति आकृष्ट हो गया है। संस्कार और संयोग, मर्यादा एवं प्रेम का यह अन्तर्द्वन्द्व मधूलिका के चरित्र की कुंजी है। वह दोनों का निर्वाह करती है, आत्म-समर्पण करके। 'आकाशदीप' कहानी की नायिका चम्पा भी ऐसी ही किशोर है, वह जिसको प्रेम करती है उस पर पिता की हत्या का सन्देह भी है।

मधूलिका के चरित्र का संघर्ष इस कहानी को आधुनिकता प्रदान करता है। कहानीकार का विश्लेषण अत्यन्त मार्मिक एवं प्रभावशाली है। कहानी का प्रारम्भ जितना काव्यमय है, अन्त उतना ही नाटकीय है। "तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले—कहती हुई वह बंदी अरुण के पास जा खड़ी हुई।" पुरानी कहानी यहाँ समाप्त नहीं हो सकती थी, परन्तु आधुनिक कहानी का ऐसा अन्त कला का विकास सूचित करता है। इस कहानी का उद्देश्य विशेष स्थिति की मनोवृत्तियों का चित्रण है, तथ्यों की पूर्णता प्रदान करके इतिहास लिखना नहीं।

पुरस्कार

आर्द्रा नक्षत्र । आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़ जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष । प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी । शैलमाला के अंचल में समतल उर्वरा भूमि में सौंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जयघोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा । वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोर भरता हुआ आगे बढ़ने लगा ।

(प्रभात की हेम-किरणों से अनुरंजित नन्हीं-नन्हीं बूँदों का एक झोंका स्वर्ण-मल्लिका के समान बरस पड़ा । मंगल-सूचना से जनता ने हर्ष ध्वनि की ।

रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पंक्ति जम गई । दर्शकों की भीड़ भी कम न थी । गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे । सौभाग्यवती कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्रपल्लवों से सुशोभित मंगल-कलश और फूल, कुँकुम तथा खीलों से भरे थाल लिए, मधुर गान करते हुए आगे बढ़े ।

महाराज के मुख पर मधुर मुस्कान थी । पुरोहित-वर्ग ने स्वस्त्ययन किया । स्वर्ण-रंजित हल की मूठ पकड़कर महाराज ने जुते हुए सुन्दर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत किया । बाजे बजने लगे । किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की ।

/कोसल का यह उत्सव प्रसिद्ध था । एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ता, उस दिन इन्द्र-पूजन की धूम-धाम होती;) गोठ होती । नगरनिवासी उस पहाड़ी भूमि में आनन्द मनाते । प्रतिवर्ष कृषि

का यह महोत्सव उत्साह में सम्पन्न होता, दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्साह में बड़े चाव से आकर योग देते।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा बड़े कुतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का एक थाल लिए कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महाराज जब हाथ बढ़ाते तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का था जो इस साल महाराज की खेती के लिए चुना गया था; इसलिए बीज देने का सम्मान मधूलिका को ही मिला। वह कुमारी थी, सुन्दरी थी। कौशेय वसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे सम्हालती और कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक-बालिका के शुभ्र भाल पर श्रमकणों की भी कमी न थी, वे सब बरौनियों में गुंथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुस्कराहट के साथ सिहर उठते, किन्तु महाराज को बीज देने में उसने शिथिलता नहीं की। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे थे—विस्मय से, कुतूहल से। और अरुण देख रहा था—कृषक-कुमारी मधूलिका को। आह, कितना भोला सौन्दर्य! कितनी सरल चितवन!

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त हो गया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया, थाल में कुछ स्वर्णमुद्राएँ। वह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाली सिर से लगा ली; किन्तु साथ ही उसमें की स्वर्णमुद्राओं को महाराज पर न्यौछावर करके बिखेर दिया। मधूलिका की उस समय की ऊर्जस्वित मूर्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे। महाराज की भृकुटि भी जरा चढ़ी ही थी कि मधूलिका ने सविनय कहा—

देव! यह मेरी पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है; इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। महाराज के बोलने से पहले ही वृद्ध मन्त्री ने तीखे स्वर में कहा—"अबोध! क्या बक रही है? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है, फिर कोसल का तो यह सुनिश्चित राष्ट्रीय नियम है। तू

आज से राजकीय रक्षण पाने की अधिकारिणी हुई, इस धन से अपने को सुखी बना।

राजकीय रक्षण की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है मन्त्रिवर ! ··· महाराज को भूमि समर्पण करने में तो मेरा कोई विरोध न था, न है; किन्तु मूल्य स्वीकार करना असम्भव है। मधूलिका उत्तेजित हो उठी थी।

महाराज के संकेत करने पर मन्त्री ने कहा—देव ! वाराणसी-युद्ध के अनन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एकमात्र कन्या है।

महाराज चौंक उठे—सिंहमित्र की कन्या ! जिसने मगध के सामने कोसल की लाज रख ली थी, उसी वीर की मधूलिका कन्या है ?

हाँ देव ! सविनय मन्त्री ने कहा।

इस उत्सव के परम्परागत नियम क्या हैं, मन्त्रिवर ?—महाराज ने पूछा।

देव ! नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिए चुनकर नियमानुसार पुरस्कार-स्वरूप मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक, अर्थात् भू-सम्पत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष-भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।

महाराज को विचार-संघर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जयघोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने-अपने शिविरों में चले गए। किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक-वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रही।

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ—वह अपने विश्राम-भवन में जागरण कर रहा था। आँखों में नींद न थी। प्राची में जैसी गुलाली खिल रही थी, वही रंग उसकी आँखों में था। सामने देखा तो मुँडेर पर कपोती एक पैर पर खड़ी पंख फैलाए अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था, वह देखते-देखते नगरतोरण पर जा

पहुँचा। रक्षक गण ऊँघ रहे थे, अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक कुमार तीर-सा निकल गया। सिन्धुदेश का तुरंग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता-घूमता अरुण उसी मधूक वृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए खिन्न निन्द्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवीलता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित, भ्रमर निस्पन्द। अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया, उस सुषमा को देखने के लिए; परन्तु कोकिल बोल उठी। जैसे उसने अरुण से प्रश्न किया—छीः! कुमारी के सोए हुए सौन्दर्य पर दृष्टिपात करने वाले धृष्ट, तुम कौन? मधूलिका की आँखें खुल पड़ीं। उसने देखा, एक अपरिचित युवक। वह संकोच से उठ बैठी।

भद्रे! तुम्हीं न कल के उत्सव की संचालिका रही हो?

उत्सव! हाँ, उत्सव ही तो था।

कल का सम्मान···

क्यों, आपको कल का स्वप्न सता रहा है? भद्र! आप क्या मुझे इस अवस्था में सन्तुष्ट न रहने देंगे?

मेरा हृदय तुम्हारी उस छवि का भक्त बन गया है देवि!

मेरे उस अभिनय का—मेरी विडम्बना का। आह! मनुष्य कितना निर्दय है, अपरिचित! क्षमा करो, जाओ अपने मार्ग।

सरलता की देवि! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ—मेरे हृदय की भावना अवगुण्ठन में रहना नहीं जानती। उसे अपनी···।

राजकुमार! मैं कृषक-बालिका हूँ। आप नन्दनविहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीने वाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दु:ख से विकल हूँ; मेरा उपहास न करो।

मैं कोसल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूँगा।

नहीं, वह कोसल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे बदलना नहीं

चाहती, चाहे उससे मुझे कितना ही दुःख हो।

तब तुम्हारा रहस्य क्या है?

यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता, तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिचकर एक कृषक-बालिका का अपमान करने न आता। मधूलिका उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर किरणों में उसका रत्न-किरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था और मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वयं आहत न हुई? उसके हृदय में टीस-सी होने लगी। वह सजल नेत्रों से उड़ती हुई धूल देखने लगी।

मधूलिका ने राजा का प्रतिदान, अनुग्रह नहीं लिया। वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी खाकर पड़ी रहती। मधूकवृक्ष के नीचे छोटी-सी पर्णकुटीर थी। सूखे डंठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका का वही आश्रय था। कठोर परिश्रम से जो रूखा अन्न मिलता, वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था।

दुबली होने पर भी उसके अंग पर तपस्या की कान्ति थी। आस-पास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श बालिका थी। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतने लगे।

शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप, मधूलिका का छाजन टपक रहा था। ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुर कर एक कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ा कर सोच रही थी। जीवन से सामंजस्य बनाए रखने वाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं; परन्तु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ बढ़ती-घटती रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई—दो, नहीं-नहीं तीन वर्ष हुए होंगे, इसी मधूक के नीचे, प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था?

वह अपने हृदय से पूछने लगी—उन चाटुकारी के शब्दों को सुनने के लिए उत्सुक-सी वह पूछने लगी—क्या कहा था ? दुःख-दग्ध हृदय उन स्वप्न-सी बातों को स्मरण रख सकता था ! और स्मरण ही होता, तो भी कष्टों की इस काली निशा में वह कहने का साहस करता ? हाय री विडम्बना !

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिए विकल थी । दारिद्रय की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया है । मगध की प्रासादमाला के वैभव का काल्पनिक चित्र—उन सूखे डंठलों के रन्ध्रों से, नभ में—बिजली के आलोक में—नाचता हुआ दिखाई देने लगा । खिलाड़ी शिशु जैसे श्रावण की संध्या में जुगनू को पकड़ने के लिए हाथ लपकाता है, वैसे ही मधूलिका मन-ही-मन कह रही थी । 'अभी वह निकल गया ।' वर्षा ने भीषण रूप धारण किया । गड़गड़ाहट बढ़ने लगी; ओले पड़ने की सम्भावना थी । मधूलिका अपनी जर्जर झोंपड़ी के लिए काँप उठी । सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ—

कौन है यहाँ ? पथिक को आश्रय चाहिए ।

मधूलिका ने डंठलों का कपाट खोल दिया । बिजली चमक उठी । उसने देखा एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है । सहसा वह चिल्ला उठी— राजकुमार ?

मधूलिका ! आश्चर्य से युवक ने कहा ।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया । मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गई—इतने दिनों के बाद आज फिर !

अरुण ने कहा—कितना समझाया मैंने—परन्तु···

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी । उसने कहा—और आपकी क्या दशा है ?

सिर झुकाकर अरुण ने कहा—मगध का विद्रोही, निर्वासित कोसल में जीविका खोजने आया हूँ ।

मधूलिका उस अन्धकार में हँस पड़ी—मगध के विद्रोही, राजकुमार का स्वागत करे—एक अनाथिनी कृषक-बालिका, यह भी एक

विडम्बना है, तो भी मैं स्वागत के लिए प्रस्तुत हूँ।

शीतकाल की निस्तब्ध रजनी, कुहरे से धुली हुई चाँदनी, हाड़ कँपा देने वाला समीर, तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर वट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं। मधूलिका की वाणी में उत्साह था, किन्तु अरुण जैसे अत्यन्त सावधान होकर बोलता।

मधूलिका ने पूछा—जब तुम इतनी विपन्न अवस्था में हो फिर इतने सैनिकों को साथ रखने की क्या आवश्यकता है ?

मधूलिका ! बाहुबल ही तो वीरों की आजीविका है। ये मेरे जीवन-मरण के साथी हैं; भला, मैं कैसे छोड़ देता ? और करता ही क्या ?

क्यों ? हम लोग परिश्रम से कमाते और खाते। अब तो तुम···।

भूल न करो, मैं अपने बाहुबल पर भरोसा करता हूँ। नए राज्य की स्थापना कर सकता हूँ, निराश क्यों हो जाऊँ ?—अरुण के शब्दों में कम्पन था, वह जैसे कुछ कहना चाहता था; पर कह न सकता था।

नवीन राज्य ! ओहो तुम्हारा उत्साह तो कम नहीं। भला, कैसे ? कोई ढंग बताओ, तो मैं भी कल्पना का आनन्द ले लूँ।

कल्पना का आनन्द नहीं, मधूलिका, मैं तुम्हें राजरानी के सम्मान में सिंहासन पर बिठाऊँगा ! तुम अपने छिने हुए खेतों की चिन्ता करके भयभीत न हो।

एक क्षण में सरल मधूलिका के मन में प्रमाद का अन्धड़ बहने लगा—द्वन्द्व मच गया। उसने सहसा कहा—आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, राजकुमार !

अरुण ढिठाई से उसके हाथों को दबाकर बोला—तो मेरा भ्रम था, तुम सचमुच मुझे प्यार करती हो ?

युवती का वक्षस्थल फूल उठा, वह हाँ भी नहीं कह सकी, ना भी नहीं। अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया। कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया। तुरन्त बोल

उठा— तुम्हारी इच्छा हो तो प्राणों से पण लगाकर मैं तुम्हें इस कोसल के सिंहासन पर बिठा दूँ। मधूलिके, अरुण के खड्ग का आतंक देखोगी?

मधूलिका एक बार काँप उठी। वह कहना चाहती थी, नहीं; किन्तु उसके मुँह से निकला – क्या?

सत्य मधूलिका, कोसल-नरेश तभी से तुम्हारे लिए चिन्तित हैं। यह मैं जानता हूँ। तुम्हारी साधारण-सी प्रार्थना वह अस्वीकार न करेंगे। और मुझे यह भी विदित है कि कोसल के सेनापति अधिकांश सैनिकों के साथ पहाड़ी दस्युओं को दमन करने के लिए बहुत दूर चले गए हैं।

मधूलिका की आँखों के आगे बिजलियाँ हँसने लगीं। दारुण भावना से उसका मस्तक विकृत हो उठा। अरुण ने कहा—तुम बोलती नहीं हो?

जो कहोगे, वही करूँगी— मन्त्रमुग्ध-सी मधूलिका ने कहा।

स्वर्णमंच पर कोसल-नरेश अर्द्धनिद्रित अवस्था में आँखें मुकुलित किए हैं। एक चामरधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई बड़ी कुशलता से घुमा रही है। चामर के शुभ्र आन्दोलन उस प्रकोष्ठ में धीरे-धीरे संचरित हो रहे हैं। ताम्बूल-वाहिनी प्रतिमा के समान दूर खड़ी है।

प्रतिहारी ने आकर कहा—जय हो देव! एक स्त्री कुछ प्रार्थना करने आई है।

आँख खोलते हुए महाराज ने कहा—स्त्री! प्रार्थना करने आई है? आने दो।

प्रतिहारी के साथ मधूलिका आई। उसने प्रणाम किया। महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा—तुम्हें कहीं देखा है?

तीन बरस हुए, देव! मेरी भूमि खेती के लिए ली गई थी।

ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताए, आज उसका मूल्य माँगने आई हो, क्यों? अच्छा···अच्छा, तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी!

नहीं, महाराज ! मुझे मूल्य नहीं चाहिए ।

मूर्ख ! फिर क्या चाहिए ?

उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जंगली भूमि, वहीं मैं अपनी खेती करूँगी । मुझे एक सहायक मिल गया है । वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा, भूमि को समतल भी बनाना होगा ।

महाराज ने कहा—कृषक-बालिके ! वह बड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि है । तिस पर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्त्व रखती है ।

तो फिर निराश लौट जाऊँ ?

सिंहमित्र की कन्या ! मैं क्या करूँ, तुम्हारी यह प्रार्थना···

देव ! जैसी आज्ञा हो ।

जाओ, तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ । मैं अमात्य को आज्ञापत्र देने का आदेश करता हूँ ।

जय हो देव ! कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका राजमन्दिर के बाहर आई ।

दुर्ग के दक्षिण, भयावने नाले के तट पर, घना जंगल है । आज वहाँ मनुष्यों के पद-संचार से शून्यता भंग हो रही थी । अरुण के छिपे हुए मनुष्य स्वतन्त्रता से इधर-उधर घूमते थे । झाड़ियों को काटकर पथ बन रहा था । नगर दूर था । फिर उधर योंही कोई नहीं आता था । फिर अब तो महाराज की आज्ञा से मधूलिका का अच्छा-सा खेत बन रहा था । तब इधर की किसको चिन्ता होती ?

एक घने कुंज में अरुण और मधूलिका एक-दूसरे को हर्षित नेत्रों से देख रहे थे । सन्ध्या हो चली थी । उस निविड़ वन में उन नवागत मनुष्यों को देखकर पक्षीगण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे ।

प्रसन्नता से अरुण की आँखें चमक उठीं । सूर्य की अन्तिम किरणें झुरमुट में घुसकर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगीं । अरुण ने कहा—चार पहर और विश्वास करो, प्रभात में ही इस जीर्ण-कलेवर कोसल-राष्ट्र की राजधानी श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा और

मगध से निर्वासित मैं एक स्वतन्त्र राष्ट्र का अधिपति बनूँगा, मधूलिके !

भयानक, अरुण ! तुम्हारा साहस देख मैं चकित हो रही हूँ। केवल सौ सैनिकों से तुम···

रात के तीसरे प्रहर मेरी विजय-यात्रा होगी।

तो तुमको इस विजय पर विश्वास है।

अवश्य ! तुम अपनी झोंपड़ी में यह रात बिताओ; प्रभात से तो राजमन्दिर ही तुम्हारा लीला-निकेतन बनेगा।

मधूलिका प्रसन्न थी; किन्तु अरुण के लिए उसकी कल्याण-कामना सशंक थी। वह कभी-कभी उद्विग्न-सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर बैठती। अरुण उसका समाधान कर देता। सहसा कोई संकेत पाकर उसने कहा—अच्छा, अन्धकार अधिक हो गया। अभी तुम्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राण-पण से इस अभियान के प्रारम्भिक कार्यों को अर्द्धरात्रि तक पूरा कर लेना चाहिए; तब रात्रि के लिए विदा, मधूलिके !

मधूलिका उठ खड़ी हुई। कँटीली झाड़ियों से उलझती हुई, क्रम से बढ़ने वाले अन्धकार में वह अपनी झोंपड़ी की ओर चली।

पथ अन्धकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़ तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा, मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी, पहला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ। यदि वह सफल न हुआ तो ! फिर सहसा सोचने लगी—वह क्यों सफल हो ? श्रावस्ती-दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय ? मगध कोसल का शत्रु ! ओह, उसकी विजय ! कोसल-नरेश ने क्या कहा था—'सिंहमित्र की कन्या !' सिंहमित्र कोसल-रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है ? नहीं, नहीं। मधूलिका ! मधूलिका ! !···जैसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गई।

रात एक पहर बीत चली, पर मधूलिका अपनी झोंपड़ी तक न

पहुँची। वह उधेड़-बुन में विक्षिप्त-सी चली जा रही थी। उसकी आँखों के सामने कभी सिंहमित्र और कभी अरुण की मूर्ति अन्धकार में चित्रित होती जाती। उसे सामने आलोक दिखाई पड़ा। वह बीच पथ में खड़ी हो गई। प्राय: एक सौ उल्काधारी अश्वारोही चले आ रहे थे और आगे-आगे एक वीर अधेड़ सैनिक था। उसके बायें हाथ में अश्व की वल्गा और दाहिने हाथ में नग्न खड्ग। अत्यन्त धीरता से वह टुकड़ी अपने पथ पर चल रही थी। परन्तु मधूलिका बीच पथ से हिली नहीं। प्रमुख सैनिक ने कहा—कौन? कोई उत्तर नहीं मिला। तब तक दूसरे अश्वारोही ने कड़क कर कहा—तू कौन है स्त्री? कोसल के सेनापति को उत्तर शीघ्र दे।

रमणी जैसे विकार-ग्रस्त स्वर से चिल्ला उठी—बाँध लो, मुझे बाँध लो। मेरी हत्या करो। मैंने अपराध ही ऐसा किया है।

सेनापति हँस पड़े—पगली है?

पगली नहीं। यदि वही होती, तो इतनी विचार-वेदना क्यों होती? सेनापति! मुझे बाँध लो। राजा के पास ले चलो।

क्या है? स्पष्ट कह!

श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहर में दस्युओं के हस्तगत हो जाएगा। दक्षिणी नाले के पार उनका आक्रमण होगा।

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—तू क्या कह रही है?

मैं सत्य कह रही हूँ, शीघ्रता करो।

सेनापति ने अस्सी सैनिकों को नाले की ओर धीरे-धीरे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं बीस अश्वारोहियों के साथ दुर्ग की ओर बढ़े। मधूलिका एक अश्वारोही के साथ बाँध दी गई।

श्रावस्ती का दुर्ग, कोसल-राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न-भिन्न राजवंशों ने उसके प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह केवल कई गाँवों का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कोसल के अतीत की स्वर्ण-गाथाएँ

लिपटी हैं। वही लोगों की ईर्ष्या का कारण है। जब थोड़े-से अश्वारोही बड़े वेग से आते हुए दुर्ग द्वार पर रुके, तब दुर्ग के प्रहरी चौंक उठे। उल्का के आलोक में उन्होंने सेनापति को पहचाना, द्वार खुला। सेनापति घोड़े की पीठ से उतरे। उन्होंने कहा—अग्निसेन ! दुर्ग में कितने सैनिक होंगे ?

सेनापति की जय हो ! दो सौ।

उन्हें शीघ्र एकत्र करो, परन्तु बिना किसी शब्द के। सौ को लेकर तुम शीघ्र ही चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक और शब्द न हो।

सेनापति ने मधूलिका की ओर देखा, वह खोल दी गई। उसे अपने पीछे आने का संकेत कर सेनापति राजमन्दिर की ओर बढ़े। प्रतिहारी ने सेनापति को देखते ही महाराज को सावधान किया। वह अपनी सुख-निद्रा के लिए प्रस्तुत हो रहे थे, किन्तु सेनापति और साथ में मधूलिका को देखते ही चंचल हो उठे। सेनापति ने कहा—जय हो देव। इस स्त्री के कारण मुझे इस समय उपस्थित होना पड़ा है।

महाराज ने स्थिर नेत्रों से देखकर कहा—सिंहमित्र की कन्या फिर यहाँ क्यों ? क्या तुम्हारा क्षेत्र नहीं बन रहा है ? कोई बाधा ? सेनापति मैंने दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की भूमि इसे दी है। क्या उसी सम्बन्ध में तुम कहना चाहते हो ?

देव ! किसी गुप्त शत्रु ने उसी ओर से आज की रात में दुर्ग पर अधिकार करने का प्रबन्ध किया है और इसी स्त्री ने मुझे पथ में सन्देश दिया है।

राजा ने मधूलिका की ओर देखा। वह काँप उठी। घृणा और लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। राजा ने पूछा—मधूलिका, यह सत्य है ?

हाँ देव !

राजा ने सेनापति से कहा—सैनिकों को एकत्र करके तुम चलो, मैं अभी आता हूँ। सेनापति के चले जाने पर राजा ने कहा—सिंहमित्र

की कन्या ! तुमने एक बार फिर कोसल का उपकार किया। यह सूचना देकर तुमने पुरस्कार का काम किया है। अच्छा, तुम यहीं ठहरो, पहले उन आततायियों का प्रबन्ध कर लूँ।

अपने साहसिक अभियान में अरुण बन्दी हुआ और दुर्ग उल्का के आलोक में अतिरंजित हो गया। भीड़ ने जय घोष किया। सबके मन में उल्लास था। श्रावस्ती-दुर्ग आज एक दस्यु के हाथ में जाने से बचा। आबाल-वृद्ध-नारी आनन्द से उन्मत्त हो उठे।

उषा के आलोक में सभामण्डप दर्शकों से भर गया। बन्दी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हुँकारते हुए कहा—'वध करो !' राजा ने सबसे सहमत होकर आज्ञा दी, 'प्राणदण्ड !'

मधूलिका बुलाई गई। वह पगली-सी आकर खड़ी हो गई। कोसल-नरेश ने पूछा—मधूलिका ! तुझे जो पुरस्कार लेना हो, माँग। वह चुप रही।

राजा ने कहा—मेरी निज की जितनी खेती है, मैं सब तुझे देता हूँ। मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा। उसने कहा—मुझे कुछ नहीं चाहिए। अरुण हँस पड़ा। राजा ने कहा—नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा। माँग ले।

तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले—कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

४

काला हिरन

1896 - 1967

श्रीराम शर्मा (१८९६—१९६७ ई०) का हिन्दी-साहित्य के निर्माताओं में एक विशेष स्थान है। शिकार-साहित्य के लिए वे सदा स्मरण किए जाएँगे। साहस एवं पराक्रम के साथ-साथ उनके साहित्य में जंगली जीवन तथा पशु-पक्षियों के स्वभाव की जानकारी भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है। ग्राम एवं वन का जैसा चित्रण श्रीराम शर्मा में मिलता है वैसा हिन्दी के किसी अन्य लेखक में नहीं; प्रेमचन्द से अलग श्रीराम शर्मा ग्रामीण प्रकृति के कलाकार हैं, केवल ग्रामीण समाज के नहीं। इनकी कहानियाँ व्यक्तिगत अनुभव के कारण स्थूल यथार्थ पर फलती हुई, साहस एवं पराक्रम की गाथाएँ बन गई हैं। परन्तु लेखक का संवेदन बड़ा विस्तृत है।

श्रीराम शर्मा गांधीवादी नेता, सफल पत्रकार, कुशल प्रशासक एवं सिद्धहस्त लेखक थे। वर्षों तक आपने हिन्दी के सुप्रसिद्ध पत्र 'विशाल भारत' का संपादन किया। प्रथम कांग्रेस सरकार में उत्तर प्रदेश में मन्त्री रहे। 'प्राणों का सौदा', 'शिकार', 'बोलती प्रतिमा', 'जंगल के जीव' स्वतन्त्रता से पूर्व प्रकाशित हो चुके थे। अन्य पुस्तकों में 'संघर्ष और समीक्षा', 'वे कैसे जीते हैं', 'सेवा-ग्राम की डायरी', 'सन् बयालीस के संस्मरण' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। बनारसीदास चतुर्वेदी के शब्दों में "श्रीराम जी के बाज-बाज स्केच पढ़कर तुर्गनेव की याद आ जाती है।" पद्मसिंह शर्मा के अनुसार "आपकी वर्णन-शैली बड़ी सजीव, भाव-विश्लेषण मनोविज्ञान-सम्मत और भाषा विषय के अनुरूप बड़ी सुघड़ होती है।" महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बनारसीदास जी को लिखा था "चौबेजी, तुम भाषा लिखना श्रीराम

जी से सीख लो।" वस्तुतः लेख, कहानियाँ एवं रेखाचित्रों के लिए श्रीराम शर्मा का योगदान सराहनीय है।

'काला हिरन' श्रीराम शर्मा की प्रतिनिधि कहानियों में से है। इसमें मानव-जीवन के स्थान पर पशु-जीवन का चित्रण है, परन्तु संवेदना मनुष्य की है। लेखक का शिकारी हृदय काले हिरन के जीवन का अत्यन्त सूक्ष्म चित्र उपस्थित करता है। "जन्म के समय धरती-माता ने उसे अपनी गोद में लिया था और मौत के समय भी धरती-माता की गोद में ही वह सो गया।" पशु-प्रकृति का ऐसा सूक्ष्म अध्ययन केवल शिकारी ही प्रस्तुत कर सकता है। इस कहानी में प्रकृति, पशु, मानव सबका पारस्परिक संघर्ष है। जीवन की यह परिणति है—जन्म, विकास, संघर्ष और मृत्यु। जीवन उत्साह का नाम है, उत्साह संघर्ष का कारण है, इसलिए जीवन और संघर्ष पर्याय है। इसमें हार-जीत, जीवन-मरण केवल संकेत-चिह्न मात्र हैं। प्रकृति भावुक नहीं है। इसलिए गतिशील है, मानव भावुक बनकर गतिहीन हो जाता है।

काला हिरन

जेठ का महीना। आगरे का जिला और समय ठीक दोपहरी। लू के झकोरे हाय-हाय और सांय-सांय करते हुए पेड़ों को डरा रहे थे। जीव-जन्तुओं का दम-सा निकला जा रहा था। धरती गरम तवे-सी तप रही थी। बवन्डर जो कभी उठ खड़ा होता, तो प्रतीत होता कि चण्डी विकराल रूप में सिर के बाल बखेरे और घास-पात के सिरों का संहार करके ऊपर आकाश में उन्हें फेंक रही हो। गरमी के प्रकोप से मैदान की हरियाली परास्त ही नहीं, नष्ट भी हो चुकी थी। हाँ, आक और जवासा ग्रीष्म-रानी के मुँह-लगे नौकरों की भाँति पिट्ठू बने पनप रहे थे। उनकी असंख्य आँखें—फूल तिरछी नज़रों से लू के इशारे पर इधर-उधर घूम-फिरकर, हरियाली की टोह लगाते और उनपर फब्तियाँ कसते कि आखिर वे गीष्म-गरिमा को कब तक न मानेंगे।

गाँव से दक्षिण की ओर, रेलवे लाइन के पार, बबूलों की छाया में हिरनों का एक झुण्ड आराम कर रहा था। कुछ सचेत सन्तरी ड्यूटी पर तैनात थे। कुछ हिरनियाँ बैठी रौंथ कर रही थीं। दो-तीन पट्ठे हिरन बबूलों के तनों से अपनी देह रगड़ रहे थे। झुंड का नायक हिरन सुषुप्तावस्था में पड़ा अपने नेतृत्व के कारनामों का स्वप्न-सा देख रहा था और कान पर जब कभी कोई मक्खी आ बैठती, तब कान फट-फटाकर उसे उड़ा देता था। जब कोई सेंगरी टपक पड़ती, तब उसे बैठे-ही-बैठे हिरन या हिरनी गर्दन बढ़ाकर मुँह से उठाकर चबा लेते। टोली चैन की वंशी-सी बजा रही थी। बबूलों की

छत्रछाया में सूर्यताप से सुरक्षित हिरनों का झुंड आराम कर रहा था, पर एक हिरनी कभी उठती और कभी बैठती। थोड़े ही समय में वह चकित-भीता हिरनी झुंड को छोड़कर धीरे-धीरे आगे बढ़ी। झुंड के अन्य सदस्यों ने उसे देखा, पर कोई विस्मित नहीं हुआ। चिंतित और घबराई-सी हिरनी कुछ कदम चलकर करीब ही झरबेरी की आड़ में खड़ी हो गई और सचेत, पर करुण नेत्रों से उसने इधर-उधर देखा। विरहाकुल भूमि ने सहानुभूति प्रकट की, शिवनेत्र —सूर्य —ने भी हिंस्र जीव पर कड़ी नजर रखी। प्रकृति ने प्रसूति-क्रिया में सहायक बनना सहर्ष स्वीकार किया। हिरनी बैठी, पीड़ा से कुछ बेचैन हुई। थोड़ी ही देर बाद वह घबराई-सी खड़ी हो गई, और उसके करीब झिल्ली में लिपटा एक माँसपिंड कँपा। पाँच मिनट में ही हिरनी ने उसे चाट-चाटकर साफ कर दिया, मानों किसी दक्ष दाई ने उसे स्नान कराकर तौलिया से पोंछ कर सुखा दिया हो। हिरनी कोई मानवी माता थोड़े ही थी, जिसकी परिचर्या के लिए डॉक्टरों और औषधियों की जरूरत हो। सभ्यता और बनावटी जीवन के अभिशाप तो उनके लिए ही हैं, जो प्रकृति की उपेक्षा करके, सादगी के सीधे और सुगम मार्ग को छोड़कर, खान-पान और रहन-सहन के कृत्रिम कूप में जान-बूझ कर गिरते हैं।

मृग-शावक ने भोली आँखों से अपनी माँ की ओर निहारा, और माँ ने अपनी कातर दृष्टि से उसकी आँखों में स्नेह उँडेला। स्नेह-आकर्षण से शावक के कोमल शरीर में बिजली-सी दौड़ गई। लड़खड़ाकर वह खड़ा हुआ। क्षीण शब्द— रंभाने के धीमे शब्द 'ओंअ' - से अपनी सजीवता प्रकट की। झरबेरी ने झप-झप कर पुत्र-जन्म पर सोवरि के गीत गाये। लू की सिहरिन ने रागिनी छेड़ी। सूर्य ने मूक ठेका लगाया और मृग-शावक ने हूतें मार-मारकर मातृ-अंचल से श्वेत जीवन-रस पान किया। हिरनी दूध पिलाने में कभी अपने बच्चे को दुलार करती और कभी कनौती करके चारों ओर देखती कि कहीं कोई शत्रु तो निकट नहीं है। पिछली बार ऐसे ही समय गंध पाकर दो गीदड़ उधर आ निकले थे और उसके क्रोध, क्लेश और दर्दभरी पुकार का उन पर कुछ असर नहीं हुआ था, और उसके लाल को वे बात-की-बात में चट कर

गये थे। प्रकृति के प्रांगण में जीवन-मौत के ये सौदे ही रहते हैं, इसलिए हिरनी बहुत सतर्क थी। हाँ, ऊपर गिद्ध को मँडराता देखकर वह चिंतित अवश्य थी कि उनके मँडराने को देखकर कहीं गीदड़ और कुत्ते उधर न आ निकलें। पर इस बार प्रकृति ने हर तरह से उसकी सहायता की थी। बच्चा भी काफी होनहार प्रतीत होता था। बदन, रग-पुट्ठे और टाँगों की बनावट मृग-शावक को नेतृत्व पथ पर ले जाने के प्रमाण-स्वरूप थे। अतः सुविधा के लिए उसे चौधरी सम्बोधित किया जायगा।

टाँगें फरहरी होते ही एक घंटे के भीतर दुधपिया चौधरी अपनी माँ की बगल में चलने लगा। प्रेम-विभोर तथा शंकिता हिरनी चौधरी को शीघ्र ही जीवन-दीक्षा देने लगी। जब कभी वह आतुर होकर इधर-उधर दौड़ने की कोशिश करता, तभी वह मीठी भर्त्सना में 'आंउउ' की चेतावनी देती मानों उससे कहती, 'पूत, अभी तुझे अनुभव नहीं है और न तेरी टाँगों में इतना बल है, जो अपने शत्रुओं से भागकर पिंड छुड़ा सके और न तुझमें इतनी शक्ति है, जो कुत्तों और गीदड़ों से सफलतापूर्वक लड़ सके। भर्त्सना और चेतावनी-सूचक दृष्टि से और शब्द से चौधरी चौकन्ना होकर अपनी माँ की बगल से उसी प्रकार आ लगता, जिस प्रकार दो-तीन वर्ष का बालक किलकारी मारकर और दौड़कर अपनी माँ का दामन पकड़ लेता है।

सूर्य-ताप कम होने पर बबूलों में बैठा झुंड भोजन की खोज में चल पड़ा था, पर हिरनी अभी झुंड में शामिल नहीं हुई थी। दिन के अवसान पर, गरमी के कम होने पर धूप की गरमी जोर पकड़ती है। गीदड़ और भेड़िये पेट की ज्वाला बुझाने के लिए शिकार की खोज में निकलते हैं। सांध्य वेला में ही खासतौर से चौधरी की खबरगीरी करनी थी।

कुछ दूर हिरनी चलती और चौकन्नी होकर खड़ी हो जाती और चौधरी को दूध पिलाती। दाएँ-बाएँ पूँछ हिलाकर चौधरी माता के स्तन से लग जाता और दूध का फैन धरती-माता के माथे पर टपक

पड़ता। स्नेहपगी माँ वात्सल्य-विह्वल होकर अपने लाल का मल-मूत्र तक चाट जाती। मातृ-स्नेह-रूपी सुरसरि में बच्चे का सब मैल पवित्र हो जाता है।

सायंकाल को उसकी ओर आते हुए दो गीदड़ों पर हिरनी की जो नज़र पड़ी तो उसका हृदय धक्-धक् करने लगा। कनौती करके उस ओर वह देखने लगी और चौधरी को अपनी आड़ में खड़ा कर लिया। खड़े-खड़े कभी वह अगला पैर उठाकर वहीं-का-वहीं रखती और कभी कातर दृष्टि से चौधरी की ओर निहारती। गीदड़ों ने समझा, झुंड से बिछुड़ी हिरनी खड़ी है। उस ओर देखते वे बढ़े। उन्होंने समझा, हिरनी को पकड़ने की चेष्टा उनके लिए आकाश-कुसुम तोड़ने के समान है। खरगोश, मेंढक अथवा चूहे की टोह में—विशेषकर पानी पीने की टोह में—गीदड़ का जोड़ा आगे बढ़ा, और हिरनी की जान-में-जान आई। करीब ही आक की हरी-भरी झाड़ी थी। सावधानी से वह उसकी ओर बढ़ी और आकों के कोमल पात खाने लगी। भोजन और पानी दोनों ही की प्राप्ति उसे हुई। वह अलबेली जच्चा थी। अपने 'लाल का मान' भी करती थी, पर हरीरे और केवके के बजाय उसे आक के पत्ते और सूखी घास के तिनके ही मिले।

पहली रात की रखवाली तो उसे काल-रात्रि के समान थी। लोमड़ी के आगमन या खरगोश के फुदकने पर घबरा जाती। यद्यपि प्रसूति-स्थान से वह लगभग छः-सात फर्लांग दूर आ गई थी, फिर भी उसे चौधरी की रक्षा का खयाल था।

प्रातःकाल दो-तीन गीदड़ सौ-सवा-सौ गज़ की दूरी से निकले, तो वह अचल होकर ज़मीन से चिपट गई और उसका रंग ज़मीन के रंग में मिल गया। गीदड़ों को इस बात का पता भी न लग पाया कि चौधरी और उसकी माँ वहाँ पर गीदड़ों की आँखों में धूल झोंककर बैठे हैं। यदि गीदड़ देख भी पाते, तो भी चौधरी में अब इतना दम आ गया था कि वह गीदड़ों की गति से एकाध मील दौड़ लेता, पर फिर भी हिरनी नहीं चाहती थी कि किसी प्रकार से उसकी परीक्षा हो।

दूसरे दिन हिरनी चौधरी के साथ झुंड में जा मिली। पहले तो झुंड को देखकर चौधरी चकराया, पर जिसे माँ की गोद की शरण प्राप्त हो अथवा माँ का सहारा हो, उसे किसका डर? कुदक कर और सहम कर वह पहले तो माँ की बगल से जा मिला, पर थोड़ी देर बाद उसकी झिझक खुल गई, और जब झुंड में उसने अपने समवयस्क शावक देखे, तब खुशी से उसकी बाछें खिल गईं। झुंड के हिरनों और अन्य हिरनियों ने चौधरी के आगमन पर मूक प्रसन्नता प्रकट की।

चौधरी दिन दूना और रात चौगना बढ़ा। झुंड के साथ उसने शत्रुओं से सतर्कता की कला सीखी। जब कभी गाँव के कुत्ते झुंड का पीछा करते, तो पहले तो हिरन दुलकी चाल चलते, फिर मीठी पोइया, और कुत्तों को करीब आते समझ कर हिरन छलांग मारकर दौड़ते। झुंड ऐसे मौकों पर कई विभागों में विभाजित हो जाता। कुत्ते उल्लू बन कर और थक कर लौट जाते। चौधरी के जन्म के चार दिन बाद ही प्रातःकाल गाँव के तीन-चार लड़के चार-पाँच कुत्तों को लेकर उधर आ निकले। हिरनों को देखकर लड़कों ने कुत्तों को हुलकारा, ''दूलै-लै, दूलै-लै। सेरा लैह, झब्बू दूह।'' कुत्तों ने पहले घात लगाई, पर जैसे ही लड़के दूलै-दूलै दूलै-लै करके हिरनों की ओर भागे, वैसे कुत्तों ने ही हिरनों का पीछा किया। हिरनों की टोली ने पहले तो लेंडी कुत्तों की परवाह न की और वे धीरे-धीरे भागे, पर दूसरे गाँव की ओर से भी कुछ आदमी उधर आते दिखाई दिए। तीसरी ओर कुछ आदमी घास खोद रहे थे। उनसे किसी भय की आशंका नहीं थी, पर फिर भी थे तो वे आदमी। एकदम टोली में भिरूं पड़ा। अनुभवी हिरन और हिरनियाँ तो बात-की-बात में छलाँगें भरते हुए दूर हो गए। लेंडी कुत्तों में दम ही कितना था। दो फर्लांग की दौड़ में ही उनका दम फूल गया। एक तो खेत भर की दौड़ में ही 'खों-खों-खांव' करके रुक गया। उसे खाँसी थी। पर टोली के मृग-शावकों की माताओं को दुतरफा आक्रमण से कुछ चिंता हुई। चौधरी की माँ घसियारों की ओर भागी थी। जैसे ही वह उनके करीब आई, वैसे ही घसियारों

ने दूलै-दूलै की आवाज़ लगाई। बिदक कर चौधरी वापस लौटा। दो कनकटे कुत्ते चौधरी का पीछा कर रहे थे। अपनी माँ के साथ वह कुत्तों की ओर बढ़ा। लड़कों ने आवाज लगाई 'लैह बूचा बेटा'। कुत्तों ने जोर लगाया। हिरनी सकपकाई और भागकर चौधरी के आगे निकल गई और लौटकर कुत्तों की ओर को दुल्की चाल से चलने लगी। कुत्ते झांसे में आ गए। उन्होंने समझा कि हिरनी को वे हथिया लेंगे। चौधरी माँ की चाल समझ गया और दूसरी ओर को भाग गया। कुत्तों ने बचा-खुचा दम लगाकर हिरनी का पीछा किया। हिरनी कुत्तों को ललचा रही थी। वह इतनी गति से दौड़ रही थी कि कुत्तों से दस-बारह गज दूर रहती थी। दो फर्लांग तक वह दोनों कुत्तों को इसी तरह चकमा देकर ले गई और तब एकदम उसने चौकड़ी भरी और कावा काटकर शीघ्र ही चौधरी से जा मिली। थके कुत्तों ने लड़कों के पास जाने की अपेक्षा गाँव की ओर जाना ही ठीक समझा।

टोली के साथ चौधरी अपनी माँ की देख़-रेख में प्रतिदिन मीलों घूमता। एक-आध मील की दौड़ तो उसे किसी-न-किसी बहाने लगानी ही पड़ती। गाँव के कुत्ते हुलकारने पर टोली को रपटाते, तो कभी गीदड़ों व भेड़ियों के आतंक से उन्हें भागना पड़ता। यों तो जन्म के १५-२० दिन बाद ही चौधरी को धूल की इच्छा हुई, पर खारी ज़मीन को चाटने में उसे अधिक मजा आता। झूकटों और मेड़ों पर दूब के कुल्लों पर भी वह मुँह मारता और बड़े चाव से उन्हें खाता। एक दिन उसकी माँ उसे सायंकाल के झुटपुटे में गाँव के करीब ज्वार चुगाने ले गई। चारे की खातिर एक काश्तकार ने जेठ के महीने में ही अगाऊ चरी बो दी थी। एक-एक बालिश्त के लहलहाते हुए पौधों ने एक बीघे खेत को कालीन-सा बना रखा था। आस-पास की तप्त व गंजी भूमि में एक बीघे का वह हरा-भरा टुकड़ा मरु-भूमि में पाई जानेवाली शाद्वल भूमि के समान था। खेत की ऊँची मेंड़ को हिरनों ने एक कुलांच में पार कर लिया, और हरे पौधों को उन्होंने चरना शुरू किया। बात-की-बात में हिरन आधे खेत को चौपट कर गए, पर चौधरी को ज्वार के छोटे पौधे चरने में इतना मजा आया कि वह

माँ के दूध को भी भूल गया। किसान खाना खाकर जो लौटा, तो हिरन उसकी पैछर पाते ही रफूचक्कर हो गए। जब सुबह किसान ने खेत पर नज़र डाली, तब क्रोध में उसने हिरनों को गालियाँ दीं और मन मसोसकर रह गया। अगले दिन से उसने गोबर को पानी में घोलकर एक बीघे खेत में छिड़का। दो-चार बार हिरनों ने चरी के चरने की चेष्टा की, पर गोबर छिड़का होने के कारण वे खेत पर मुँह न डाल सके। चौधरी को इस प्रकार चरी न खा सकने का पछतावा रहा।

उन दिनों पानी की भी बड़ी कमी थी। आस-पास न तो कोई ताल था और न कोई नहर या बम्बा। इसीलिए हिरनों की टोली आक के कोमल पत्तों को खाकर अपनी प्यास बुझाती।

एक दिन चौधरी अपनी माँ की बगल में चर रहा था। और हिरन भी इधर-उधर फैले हुए चर रहे थे। करीब १५० गज़ पर एक बैलगाड़ी धीरे-धीरे हिरनों के बराबर जा रही थी। उस गाड़ी की ओर टोली के अधिकांश हिरनों और हिरनियों ने देखा। मुँह में तिनका दाबे, कनौती किए और पूँछ हिलाते हुए कौतूहलवश बैलगाड़ी की तरफ वे देखते और फिर चरने लगते। चौधरी की माँ ने संकेत द्वारा उसे बता दिया कि बैलगाड़ी से किसी भय की आशंका नहीं है। ये तो हिरन-जीवन की साधारण-सी बातें हैं। आदमी से दूर रहना तो ठीक है, पर देहातियों की वेश-भूषा तो कोई विशेष आपत्तिजनक नहीं। घास काटते, हल जोतते, चरस चलाते अथवा कुत्ता हुलकारते वे देखे ही जाते हैं, पर फिर भी कदम-कदम पर सतर्क रहना हिरन-जाति का स्वभाव होना चाहिए, क्योंकि इनका बड़ा भारी हथियार दौड़ना ही है। चौधरी को प्रतिदिन ट्रेनिंग मिलती। हिरन बैलगाड़ी की तरफ देखकर चरने लगते। थोड़ी ही देर में बैलगाड़ी रुकी और उसमें से एक नली-सी उनकी ओर को झुकी। धाँय शब्द के साथ चौधरी के करीब खड़ा हुआ एक हिरन जमीन पर गिरकर पैर पटकने लगा। टोली में आतंक छा गया। घबराकर सब-के-सब बेतहाशा भागने लगे। एक बार धाँय और हुई, एक दूसरा हिरन लँगड़ा हो गया। टोली से फुट्टेल होकर वह भागने लगा। बैलगाड़ी से उतर कर दो आदमी

उसके पीछे भागे। हिरन की टोली बात-की-बात में तीन-चार मील दूर चली गई। चौधरी के जीवन में यह नया ही अनुभव था। अपनी माँ के पास डर से चौकन्ना वह खड़ा था। उसकी माँ ने समझाया कि सीधे-सादे देहाती से सचेत तो रहना चाहिए, लेकिन उससे कोई विशेष डरने की बात नहीं। हाँ, जिसके हाथ या कंधे पर काली-कलूटी डंडे-सी कोई चीज़ हो, जिसके कपड़े देहातियों के कपड़ों से भिन्न हों, धोखे के लिए खाकी कपड़े पहने हो या सिर पर जिसके खाकी बड़ी टोपी हो, वह रुक कर और घात लगाकर चले, तो समझ लेना कि वह हिरनों की जान का ग्राहक है। अपने डंडे में से वह ऐसी गरम गोली फेंकता है, जिसकी चाल हमारी चाल से भी बीस गुनी है।

उस दिन चौधरी बहुत घबराता रहा, पर शाम तक टोली फिर मिल गई और अगले दिन फिर अपने पुराने स्थान पर चरती-चराती आई।

महीनों के ताप के बाद, एक दिन विरहिन धरती की पुकार की सुनवाई हुई। शरम से सूरज ने मुँह छिपाया और लू ने श्वास-प्रश्वास खींचा। भूतल के क्लेश से द्रवित प्रकृति असंख्य आँसू बहाने लगी। फलस्वरूप दुनिया बदल गई। झील-पोखरे लबालब हो गए। किसानों ने हल सँभाले और खरीफ की बुवाई शुरू हुई। एक सप्ताह के भीतर ही पावस-कुमारी धानी साड़ी पहने विचरने लगी। हिरनों की टोली जलराशि से बचकर पूठों की ओर को रहने लगी।

यों तो वर्षा वर्ष की जान है, पर ऊँटों, बकरियों और हिरनों को बारिश अधिक अखरती है। हिरनों की तो खासतौर से आफत आ जाती है। कुत्तों को लेकर मांसाहारी लोग हिरनों का पीछा करते हैं और घेर कर एकाध हिरन को झील-झिलारे स्थानों में रप-टाते हैं। हिरन जितनी ही ऊँची छलांग मारता है उतनी ही गीली जमीन में वह अपनी टाँगें फँसाता है। दो-चार फलाँगों में ही थक जाता है, और लोग उसे पकड़ लेते हैं। कभी-कभी पानी में भी हिरन पकड़ लिया जाता है। चौधरी की टोली के कई हिरनों और

हिरनियों ने ऐसे ही अपनी जानें गँवाई थीं।

बरसात में एक दिन पूठे पर एक झाड़ी के करीब चौधरी हरी दूब चर रहा था कि एकदम उसके ओंठ में तेज़ सुई-सी चुभी। उछल-कर वह एकदम दूर खड़ा हो गया और लगा ओठ को जमीन पर रगड़ने, पर उसकी परेशानी बहुत देर तक बढ़ती ही गई। उसे बिच्छू ने काट लिया था। चारों ओर चक्कर काटता, धांसता और बार-बार मुँह को जमीन पर रगड़ता। उस दिन उसने कुछ नहीं खाया।

भादों और कुँआर के महीनों में तो हिरनों की मौज ही हो गई। दिन को खेतों में घुसकर मूँग, रमास और खुरती की फलियाँ खाते और रात को खुले मैदान में आ जाते। पर कभी-कभी फसल की आड़ से शिकारियों को भी उनके मारने में सुविधा रहती।

दिवाली के करीब खरीफ की फसल तो कट गई और रब्बी की बुवाई शुरू हो गई, अरहर के लहलहाते खेतों में हिरनों की टोली मौज करती। एक दिन मूँग के कटे एक पूले पर चौधरी ने जैसे ही मुँह मारा, वैसे ही उसमें से एक भयंकर फुसकार हुई। जाड़े से बचने के लिए एक काला साँप उसमें आ छिपा था। खैर ही हो गई। काले साँप ने फन तो मारा, पर मूँग के डंठल ने उसके वेग को रोक लिया और आधे इंच से चौधरी के ओंठ बच गए। अगर कहीं काला साँप चौधरी को काट खाता तो घंटों में ही वह ठंडा हो जाता।

जाड़े के प्रकोप से दिन सुकड़ने लगे और रातें पेंग बढ़ाने लगीं। माँ की ममता चौधरी की ओर से कम होती जाती थी और वह अपनी साथिन हिरनियों से अधिक हिल-मिल रहा था। दो-एक बार उसने टोली के गुर्रे हिरनों के अधिक निकट जाने की धृष्टता की। उनकी एक टक्कर से उसे अपनी मूर्खता का ज्ञान हो गया, और फिर इनसे बचता ही रहता। जब कभी वह टोली के नेता काले हिरन की मस्त चाल देखता, तभी वह मंत्रमुग्ध हो जाता। एक दिन तो उसने अपने झुंड के एक नए पट्ठे और नेता की लड़ाई घण्टों देखी, नेता को परास्त होकर बहिष्कृत होते भी उसने देखा और विजयी हिरन की मद-भरी चाल की उसने दाद भी दी।

माघ के आते-आते उसे अपनी माँ का मोह छोड़ना पड़ा। एक तो स्वयं उसे ही माँ के सहारे की आवश्यकता नहीं रही थी, दूसरे वह भी चौधरी की उपेक्षा करने लगी थी। चौधरी की अब उसे तनिक भी चिन्ता नहीं थी। जंगली पशु एक बात में तो मनुष्य से बढ़े-चढ़े हैं। अपनी संतान को वे शिक्षा-दीक्षा में अपने समान कर देते हैं। मानव-समाज में माता-पिता या तो अपने बच्चों को अपने से अच्छा बना देंगे या फिर वे उनसे खराब रहेंगे, पर चौधरी की माँ ने उसे हिरन-जीवन-शिक्षा की टकसाल में ढाल-सा दिया था। दुबारा जेठ आने तक चौधरी ने जवानी की ओर कदम बढ़ाये। उसके शरीर में जवानी का खून तेजी पकड़ने लगा। दो छोटे-छोटे सींग भी उसके निकल आए थे और झुंड के हम-उमर हिरनों से वह दो-चार जड्डें रोज लेता और प्रत्येक को हराता। दौड़ में तो उसकी उमर का कोई भी हिरन उससे बाजी नहीं मार पाता, पर अभी अधिक बड़े हिरनों के सामने उसकी कुछ न चलती। एक बार अपने जौंन के एक पट्ठे हिरन से वह उलझ पड़ा था और दूसरी टक्कर में ही उसके सामने जमीन घूमने-सी लगी थी। थोड़ी-सी मूर्छा के बाद उसने माँ की ओर देखा, पर उधर से क्या, कहीं से भी उसे सहानुभूति न मिली। और फिर उसकी माँ की देख-भाल में तो एक नया शावक आ चुका था।

यों तो डेढ़-दो वर्ष में ही चौधरी का पुरुषत्व जाग गया था और हिरनियों की ओर उसे स्वाभाविक आकर्षण हो गया था। तीन-चार वर्ष की उमर में तो वह टोली के नायक हिरन का कुछ सामना भी कर जाता था, पर लड़ाई में वह टिक न पाता था। हाँ, दौड़ में उसे कोई न पाता था। जीवन के पाँचवें वर्ष में चौधरी का हुलिया ही बदल गया। रंग काला हो गया और सींग भी काफी बड़े हो गए। गर्दन उठा और पूँछ ऊँची करके मस्त चाल से जब वह किसी हिरनी पर अपना प्रेम-प्रदर्शन करता तब टोली का नायक उससे कुढ़ जाता और क्रोधानल में भुनकर उसकी ओर आता। दो-चार टक्करें

दोनों की हो जातीं और चौधरी कुछ सहमकर लड़ाई को अधिक न बढ़ाता, पर अब वह उससे डरता जरा भी न था। एक दिन चौधरी ने एक हिरनी पर अधिक स्नेह प्रकट किया। नायक की दखलंदाजी उसे पसन्द नहीं आई, और बिगड़कर उसने उससे मोर्चा लिया। दोनों हिरनों में ठन गई। हिरनियाँ दूर खड़ी उस द्वन्द्व को देखती रहीं। पीछे हटकर दोनों ने गति लेकर टक्करें लीं। सींगों से सींग भिड़ाये, कभी घुटना टेककर और कभी खड़े होकर दोनों लड़ने लगे। ऊसर में अखाड़ा-सा बन गया। किसान भी खेतों से लड़ाई देखने में मजा लेने लगे। कनौती किए हिरनियाँ देख रही थीं कि विजय-श्री किसके हाथ रहती है। शावक सहमे-सुकड़े खड़े थे। पट्ठे हिरनों को प्रणयकेलि का अवसर मिला था। दोनों पहलवान अभी जुटे हुए थे। दोनों की इज्ज़त और नेतृत्व का मामला था। टोली में एक ही नेता रह सकता था, और नेतृत्व की कसौटी थी शक्ति-प्रदर्शन। टोली के नायक ने अनुभव से काम लिया। अपने सींगों को तनिक ढील देकर वह एक ओर को हुआ, चौधरी धक्के से आगे बढ़ा और नायक ने अवसर पाकर चौधरी के पुट्ठे में वह टक्कर दी कि वह गिरते-गिरते बचा, पर नायक के अनुभव के मुकाबले में चौधरी की दीवानी जवानी, पुष्ट पुट्ठे और मजबूत टाँगें थीं। सँभलकर, रोष में आकर चौधरी फिर भिड़ा और नायक के उस पेंच पर नहीं आया। घण्टे भर की लड़ाई के बाद बढ़ती उमर ने चढ़ती उमर के सामने कमजोरी दिखाई। नायक ने अंतिम जोर लगाया, पर चौधरी तो अभी गरमाया ही था। नायक की थकावट उसकी साँसों से प्रकट हो रही थी, और उसे बचाव की फिकर थी। थकावट आने पर अवसर पाकर मैदान छोड़कर वह भाग निकला। चौधरी विजयी वीर की भाँति मदभरे नयनों से कभी हिरनियों की ओर देखता और कभी अपने विजित प्रतिद्वन्द्वी की ओर, जो टोली को छोड़कर दो-तीन फर्लांग की दूरी पर जा खड़ा हुआ था। विजयी चौधरी का नेतृत्व टोली ने स्वीकार किया और पुराने नायक की उपेक्षा की।

चौधरी ने टोली का नेतृत्व बड़ी शान से किया। अपने नेतृत्व के दूसरे ही वर्ष में एक दूसरी टोली के हिरन ने उसका मुकाबला किया, पर चौधरी ने दस मिनट में उसे इतना खदेड़ा और उसके ऐसी टक्कर मारी कि हिरन पीछे हटने में एक कुएँ में जा गिरा। कुत्तों और भेड़ियों से बचने के लिए चौधरी हमेशा ऐसा मार्ग पकड़ता, जिससे टोली के सब सदस्य उसके नेतृत्व की प्रशंसा करते।

चौधरी के मुटापे, उसके लम्बे सींगों और चिकनी बढ़िया खाल के कारण शिकारियों के मुँह में पानी भर आया। उन्होंने बीसों बार प्रयत्न किए—बैलगाड़ी में बैठकर, फसल की आड़ लेकर, उस पर निशाना लेने की कोशिश की, पर चौधरी ने सबको झाँसा दिया। जब कभी वह किसी बैलगाड़ी को देखता अथवा ठिठककर चलने वाले व्यक्ति को देखता तो वह नौ-दो-ग्यारह हो जाता और उसकी टोली भी भाग जाती।

जाड़े के दिनों में कंजर लोग उसे पकड़ने की कोशिश करते। एक ओर फर्लांग लंबा जाल लगाते और दूसरी ओर से चौधरी को घेर कर लाते, पर जाल के पास आते ही बीस फुट लम्बी कुलांच मारकर वह साफ बच निकलता। कंजर और अन्य शिकारी हाथ मलते रह जाते।

जाड़े के दिनों में अपनी प्रणय-केलि में प्रातःकाल के समय वह 'ओंअ' 'ओंअ' करके अपने यौवन का प्रदर्शन करता, तब खेतों पर सोने वाले रखवाले समझ जाते कि चौधरी मस्ती पर है।

गर्मियों में एक दिन शाम के समय जब चौधरी की टोली आकों को चर रही थी, तब एकदम एक भेड़िए ने टोली पर धावा बोल दिया। दौड़ने में भेड़िया हिरणों को क्या पा सकता था, पर भेड़िए ने एक ओर से इस प्रकार हमला किया कि हिरनों को पूरब की ओर भागना पड़ा। टोली में भिरूं पड़ा। चौधरी बेतहाशा दौड़ा और उसके पीछे दौड़े टोली वाले अन्य सदस्य। तीन फर्लांग की दूरी पर जब टोली तीस मील की गति से दौड़ रही थी, तब मार्ग में छिपे एक

दूसरे भेड़िए ने आक्रमण किया । चौधरी की गति में ब्रेक नहीं लगा, वरन् वह एकदम एक ओर को उछल गया और भेड़िए की गिरफ्त से निकल गया । भेड़िए ने एक हिरनी को धर-दबोचा । उसका छोटा बच्चा घबरा कर रुक गया और इतने में दूसरे भेड़िए ने उसे भी आ पकड़ा । भेड़ियों के आक्रमणों से घबराकर चौधरी अपनी टोली को वहाँ से सात-आठ मील की दूरी पर ले गया और जाड़े के दिनों में उधर नहीं आया ।

मनुष्यों के कृत्रिम जीवन में नेतृत्व का भार बड़े-बूढ़ों और बुद्धिमान व्यक्तियों पर होता है, पर पशु-जगत में, जहाँ बढ़िया नसल की रक्षा का सवाल है, नेतृत्व बलिष्ठ और जबरदस्त सदस्य ही करता है । बुढ़ापे में नायक को पदच्युत कर दिया जाता है । चौधरी के नेतृत्व का अंत भी उसी प्रकार हुआ, जिस प्रकार उसने अपनी टोली के हिरन का किया था ।

हिरनियों से उपेक्षित और टोली से बहिष्कृत चौधरी इक्कड़ हो गया । दिन को वह खेतों में छिपा रहता और रात को पूठों पर आकर विश्राम करता । दोपहर को कभी-कभी अकेला किसी बबूल के नीचे बैठा-बैठा अपनी टोली पर हसरत भरी निगाहों से देखा करता । यह बात न थी कि वह शिथिल हो गया था, पर प्रकृति के विधान से उसमें इतनी शक्ति न थी, जो अपने प्रतिद्वन्द्वी को हराकर हिरनियों को रिझा सकता । जुगाली करते समय उसे अपने पुराने मधुमास के दिन याद आते, पर मन मसोसकर रह जाता ।

आदमियों की सूरत से वह बहुत घबराता, इसीलिए वह किसी के हाथ न चढ़ता । पर एक चतुर शिकारी ने एक सप्ताह उसकी टोह में बिताया । एक दिन चार बजे ही वह एक झाड़ी की ओट में जाकर बैठ गया । सूर्य क्षीण रश्मियों से क्षितिज को रक्त वर्ण कर रहा था । पेड़ योगियों की भाँति शांत मुद्रा में खड़े थे और विरक्त चौधरी धीरे-धीरे वर्षों का बोझ लादे अपने शयन-स्थान की ओर सचेत चला आ रहा था । झाड़ी से पचास गज की दूरी पर वह रुका

कि कहीं कोई धोखा-धड़ी न हो, पर उसके खड़े होने के आधे मिनट बाद 'धाँय' शब्द हुआ। रेमिंगटन की गोली कलेजा पार कर गई। खून का फव्वारा बह चला। धरती पर पड़ा चौधरी चारों पैरों से उस शक्ति की प्रार्थना कर रहा था, जिसने उसे जन्म दिया था। जन्म के समय धरती-माता ने उसे अपनी गोद में लिया था और मौत के समय भी धरती-माता की गोद में ही वह सो गया।

५

खेल

जैनेन्द्रकुमार (जन्म सन् १६०५ ई०) आधुनिक कथाकारों में शिरोमणि हैं। प्रेमचन्द के बाद हिन्दी में दूसरा नाम जैनेन्द्र ही है, और जैनेन्द्र का क्षेत्र स्वतन्त्र है, प्रेमचन्द से भी अलग। उपन्यासकार, कहानीकार और स्वतन्त्र विचारक-लेखक तीनों ही रूपों में जैनेन्द्र जी की ख्याति है। जैन दर्शन एवं गांधीवाद का अपूर्व विकास जैनेन्द्र के व्यक्तित्व एवं साहित्य में हुआ है, जिसको जल्दबाजी में कुछ लोग विदेशी मनोविज्ञान की झाँकी समझने लगते हैं।

'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी' का प्रकाशन स्वतन्त्रता से पूर्व हो चुका था। उत्तर उपन्यासों में 'जयवर्द्धन' को सबसे अधिक ख्याति मिली है। जैनेन्द्र व्यक्तिवादी एवं मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। उन्होंने हिन्दी-उपन्यास को एक नई दिशा प्रदान की है। "बौद्धिक गहनता और नैतिक सूक्ष्म विश्लेषण में वे देश के श्रेष्ठ उपन्यासकार हैं।"

कहानीकार के रूप में भी जैनेन्द्र जी का अनन्य स्थान है। 'फाँसी' इनका प्रथम कहानी-संग्रह था। उनकी समस्त कहानियों का संग्रह सात भागों में 'जैनेन्द्र की कहानियाँ' नाम से प्रकाशित है। प्रत्येक भाग में अलग वर्ग की कहानियों को स्थान मिला है। "सामान्य रूप से जैनेन्द्र की कहानियों में भी प्रायः वे ही तत्व विद्यमान हैं, जो उनके उपन्यासों में।" 'एक रात', 'जय-संधि', 'जाह्नवी', 'तत्सत्', 'इनाम', 'अपना-अपना भाग्य', 'पाजेब', 'फाँसी', तथा 'खेल' जैनेन्द्र जी की प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

'खेल' कहानी में कलाकार ने दो शिशुओं का चित्रण करते हुए मानव के सहज स्वभाव का विश्लेषण किया है। यह खेल उत्तर भारत के ग्रामों में आज भी खेला जाता है। 'स्व' व्यक्तित्व की धुरी है, यह जन्मजात है। इसका विस्तार अधिकार की भावना तथा बदले की भावना में होता है। इसमें रागद्वेष की स्थायी भावना नहीं होती, प्रत्युत क्षणिक उद्वेग है जो उबाल एवं शान्ति के पलड़ों में झूलता रहता है।

कहानीकार ने 'तत्त्वोपदेश' पर व्यंग्य करके भी तत्त्व की बात इस कहानी में बता दी है। समस्त निर्माण एवं ध्वंस क्रीड़ा (खेल) मात्र ही है, इसका और कोई उद्देश्य नहीं है। बुदबुदा उठता है और शान्त हो जाता है, कुछ बनता है और ध्वस्त हो जाता है। यही निर्माण-ध्वंस संसार की गति है। यह जन्मजात है, समाज से सीखा हुआ नहीं। मनोहर और सुरबाला इसी सहजात भावना के प्रतिनिधि हैं।

खेल

मौन-मुग्ध संध्या स्मित प्रकाश से हँस रही थी। उस समय गंगा के निर्जन वालुकास्थल पर एक बालक और एक बालिका, अपने को और सारे विश्व को भूल, गंगातट के वालू और पानी को अपना एक-मात्र आत्मीय बना उनसे खिलवाड़ कर रहे थे।

प्रकृति इन निर्दोष परमात्म-खण्डों को निस्तब्ध और निर्निमेष निहार रही थी। बालक कहीं से एक लकड़ी लाकर तट के जल को छटाछट उछाल रहा था। पानी मानो चोट खाकर भी बालक से मित्रता जोड़ने के लिए विह्वल हो उछल रहा था। बालिका अपने एक पैर पर रेत जमाकर और थोप-थोपकर एक भाड़ बना रही थी।

बनाते-बनाते भाड़ से बालिका बोली, "देख, ठीक नहीं बना, तो मैं तुझे फोड़ दूंगी।" फिर बड़े प्यार से थपका-थपकाकर उसे ठीक करने लगी। सोचती जाती थी—इसके ऊपर मैं एक कुटी बनाऊँगी— वह मेरी कुटी होगी। और मनोहर?—नहीं, वह कुटी में नहीं रहेगा, बाहर खड़ा-खड़ा भाड़ में पत्ते झोंकेगा। जब वह हार जाएगा, बहुत कहेगा, तब मैं फिर उसे अपनी कुटी के भीतर ले लूंगी।

मनोहर उधर अपने पानी से हिल-मिलकर खेल रहा था। उसे क्या मालूम कि यहाँ अकारण ही उस पर रोष और अनुग्रह किया जा रहा है।

बालिका सोच रही थी—मनोहर कैसा अच्छा है, पर वह दंगई बड़ा है। हमें छेड़ता ही रहता है। अबके दगा करेगा तो हम उसे कुटी में साझी नहीं करेंगे। साझी होने को कहेगा तो उससे शर्त करवा लेंगे तब साझी करेंगे।

बालिका सुरबाला सातवें वर्ष में थी। मनोहर कोई दो साल उससे बड़ा था।

बालिका को अचानक ध्यान आया—भाड़ की छत तो गरम होगी। उस पर मनोहर रहेगा कैसे ? मैं तो रह जाऊँगी। पर मनोहर बिचारा कैसे सहेगा ? फिर सोचा—उससे मैं कह दूंगी, भई, छत बहुत तप रही है, तुम जलोगे, तुम मत जाओ। पर वह अगर नहीं माना ? मेरे पास होने को वह आया ही—तो ? मैं कहूँगी—भई ठहरो, मैं ही बाहर आती हूँ—पर वह मेरे पास आने की ज़िद करेगा क्या ?···जरूर करेगा, वह बड़ा हठी है।···पर मैं उसे आने नहीं दूंगी। बेचारा तपेगा···भला कुछ ठीक है। ज़्यादा कहेगा, मैं धक्का दे दूंगी और कहूँगी—अरे, जल जाएगा मूर्ख ! यह सोचने पर उसे बड़ा मज़ा-सा आया, पर उसका मुँह सूख गया। उसे मानो सचमुच ही धक्का खाकर मनोहर के गिरने का अद्‌भुत और करुण दृश्य घटित की भाँति प्रत्यक्ष हो गया।

बालिका ने दो-एक पक्के हाथ भाड़ पर लगाकर देखा। भाड़ अब बिलकुल बन गया था। माँ जिस सतर्क सावधानी के साथ अपने को हटाकर नवजात शिशु को बिछौने पर लेटा छोड़ती है, वैसे ही सुरबाला ने अपना पाँव धीरे-धीरे भाड़ के नीचे से खींचना शुरू किया। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे। इस क्रिया में वह सचमुच भाड़ को पुचकारती-सी जाती थी। उसके पैर ही पर तो भाड़ टिका है ! पैर का आश्रय हट जाने पर बेचारा कहीं टूट न पड़े। पैर साफ निकालने पर भाड़ जब ज्यों-का-त्यों टिका रह गया, तब बालिका एक बार आह्लाद से नाच उठी।

बालिका एकबारगी ही बेवकूफ मनोहर को इस अलौकिक कारीगरी वाले भाड़ के दर्शन के लिए दौड़कर खींच लाने को उद्यत हो गई। मूर्ख लड़का पानी से उलझ रहा है। यहाँ कैसी ज़बर्दस्त कारगुज़ारी हुई है, सो नहीं देखता। ऐसा पक्का भाड़ उसने कहीं देखा भी है !

पर सोचा—अभी नहीं, पहले कुटी तो बना लूँ। यह सोचकर बालिका ने रेत की एक चुटकी ली और बड़े धीरे से भाड़ के सिर पर

छोड़ दी। फिर दूसरी, फिर तीसरी, फिर चौथी। इस प्रकार चार चुटकी रेत धीरे-धीरे छोड़कर सुरबाला ने भाड़ के सिर पर अपनी कुटी तैयार कर ली।

भाड़ तैयार हो गया। पर पड़ोस का भाड़ जब बालिका ने पूरा-पूरा याद किया तो पता चला, एक कमी रह गई—धुआँ कहाँ से होकर निकलेगा ? तनिक सोचकर उसने एक सींक टेढ़ी करके उसके शीर्ष पर गाड़ दी। बस, ब्रह्मांड की सबसे सम्पूर्ण संपदा और विश्व की सबसे सुन्दर वस्तु तैयार हो गई।

वह उस समय उजड्ड मनोहर को इस अपूर्व स्थापत्य का दर्शन कराएगी, पर अभी ज़रा थोड़ा देख तो ले और। सुरबाला मुँह बाए आँखें स्थिर करके इस भाड़-श्रेष्ठ को देख-देखकर विस्मित और पुलकित होने लगी। परमात्मा कहाँ विराजते हैं, कोई इस बाला से पूछे, तो वह बताए इस भाड़ के जादू में।

मनोहर अपनी सुरी-सुरो-सुर्री की याद कर पानी से नाता तोड़, हाथ की लकड़ी को भरपूर ज़ोर से गंगा की धारा में फेंककर जब मुड़ा, तब श्री सुरबाला देवी एकटक अपनी परमात्मलीला के जादू को बूझने और सराहने में लगी हुई थी।

मनोहर ने बाला की दृष्टि का अनुसरण कर देखा—देवीजी बिलकुल अपने भाड़ में अटकी हुई हैं। उसने ज़ोर से कहकहा लगाकर एक लात में भाड़ का काम तमाम कर दिया।

न जाने क्या किला फतह किया हो, ऐसे गर्व से भरकर निर्दयी मनोहर चिल्लाया—सुर्रो रानी !

सुर्रो रानी मूक खड़ी थीं। उनके मुँह पर जहाँ अभी एक विशुद्ध रस था, वहाँ अब एक शून्य फैल गया। रानी के सामने साक्षात् एक स्वर्ग आ खड़ा हुआ था। वह उन्हीं के हाथ का बनाया हुआ था और वे किसी एक को उसकी एक-एक मनोरमता और स्वर्गीयता का दर्शन कराना चाहती थीं। हा, हंत ! वही व्यक्ति आया और उसने अपनी लात से उसे तोड़-फोड़ डाला ! रानी हमारी बड़ी व्यथा से भर गईं।

हमारे विद्वान् पाठकों में से कोई होता तो उन मूर्खों को

समझाता—संसार क्षण भंगुर है। इसमें दुःख क्या और सुख क्या ! जो जिससे बना है उसे उसी में लय हो जाना है। इसमें शोक और उद्वेग की क्या बात है ? यह संसार जल का बुदबुदा है; फूटकर एक समय जल में ही खो जाना उसकी सार्थकता है। जो इतना नहीं समझते वे वृथा हैं। री, मूर्खा लड़की, तू समझ ! सब ब्रह्मांड ब्रह्ममय है। उसी में लीन हो जाने के अर्थ हैं। इससे तू किसलिए व्यर्थ व्यथा सह रही है ? रेत का तेरा भाड़ कुछ था भी ? मन का तमाशा था। बस हुआ, और लुप्त हो गया। रेत में से होकर रेत में मिल गया। इस पर खेद मत कर, इससे शिक्षा ले। जिसने लात मारकर उसे तोड़ा है, वह तो परमात्मा का साधन-मात्र है। परमात्मा तुझे गंभीर शिक्षा देना चाहते हैं। लड़की, तू मूर्ख क्यों बनती है ? परमात्मा की इस शिक्षा को समझ और उस द्वारा उन तक पहुँचने का प्रयास कर, आदि-आदि।

पर बेचारी बालिका का दुर्भाग्य, कोई विज्ञ धीमान् पंडित तत्त्वोपदेश के लिए उस गंगा-तट पर नहीं पहुँच सके। हमें तो यह भी संदेह है कि सुर्री एकदम इतनी जड़ मूर्खा है कि यदि कोई परोपकार-रत पंडित परमात्म-निर्देश से वहाँ पहुँचकर उपदेश देने भी लगते, तो वह उनकी बात को समझती तो क्या, सुनती तक नहीं। शायद मुँह बिचका रहती। पर, अब तो वहाँ निर्बुद्धि, शठ मनोहर के सिवा कोई नहीं है, और मनोहर विश्वतत्त्व की एक भी बात नहीं जानता। उसका मन जाने कैसा हो रहा है। कोई जैसे उसे भीतर-ही-भीतर मसोसकर निचोड़ डाल रहा है। लेकिन उसने बनकर कहा, "सुरो, दुत पगली ! रूठती है ?"

सुरबाला वैसी ही खड़ी रही।

"सुरी, रूठती क्यों है ?"

बाला तनिक न हिली।

"सुरी ! सुरी !…ओ सुरो !"

अब बनना न हो सका। मनोहर की आवाज़ हठात् कँपी-सी निकली।

सुरबाला अब और मुँह फेरकर खड़ी हो गई। स्वर के इस कंपन का सामना शायद उससे न हो सका।

"सुरी···ओ सुरिया ! मैं मनोहर हूँ···मनोहर।···मुझे मारती नहीं ?"

यह मनोहर ने उसके पीठ पीछे से कहा और ऐसे कहा, जैसे वह यह प्रकट करना चाहता है कि वह रो नहीं रहा है।

"हम नहीं बोलते।" बालिका से बिना बोले रहा न गया। उसका भाड़ शायद शून्य में विलीन हो गया। उसका स्थान और सुर-बाला की सारी दुनिया का स्थान, काँपती हुई मनोहर की आवाज ने ले लिया।

मनोहर ने बड़ा बल लगाकर कहा, "सुर्री, मनोहर तेरे पीछे खड़ा है। वह बड़ा दुष्ट है। बोल मत, पर उसपर रेत क्यों नहीं फेंक देती, मार क्यों नहीं देती ? उसे एक थप्पड़ लगा—वह अब कभी कसूर नहीं करेगा।"

बाला ने कड़ककर कहा, "चुप रहो जी !"

"चुप रहता हूँ, पर मुझे देखोगी भी नहीं ?"

"नहीं देखती।"

"अच्छा मत देखो। मत ही देखो। मैं अब कभी सामने न आऊँगा, मैं इसी लायक हूँ।"

"कह दिया तुमसे, तुम चुप रहो। हम नहीं बोलते।"

बालिका में व्यथा और क्रोध कभी का खत्म हो चुका था। वह तो पिघलकर बह चुका था। यह कुछ और ही भाव था। यह एक उल्लास था जो व्याजकोप का रूप धर रहा था। दूसरे शब्दों में यह स्त्रीत्व था।

मनोहर बोला, "लो सुर्री, मैं नहीं बोलता। मैं बैठे जाता हूँ। यहीं बैठा रहूँगा। तुम जब तक न कहोगी, न उठूँगा, न बोलूँगा।"

मनोहर चुप बैठ गया। कुछ क्षण बाद हारकर सुरबाला बोली, "हमारा भाड़ क्यों तोड़ा जी ? हमारा भाड़ बनाके दो।"

"लो, अभी लो।"

"हम वैसा ही लेंगे।"

"वैसा ही लो, उससे भी अच्छा।"

"उस पै हमारी कुटी थी, उस पै धुएँ का रास्ता था।"

"लो सब लो। तुम बताती जाओ, मैं बनाता जाऊँ।"

"हम नहीं बताएँगे। तुमने क्यों तोड़ा? तुमने तोड़ा, तुम्हीं बनाओ!"

"अच्छा, पर तुम इधर देखो तो!"

"हम नहीं देखते, पहले भाड़ बनाके दो।"

मनोहर ने तभी खुशी-खुशी एक भाड़ बनाकर तैयार किया। कहा, "लो, भाड़ बन गया।"

"बन गया?"

"हाँ।"

"धुएँ का रास्ता बनाया? कुटी बनाई?"

"सो कैसे बनाऊँ—बताओ तो!"

"पहले बनाओ, तब बताऊँगी।"

भाड़ के सिर पर एक सींक लगाकर और एक-एक पत्ते की ओट लगाकर कहा, "बना दिया।"

तुरन्त मुड़कर सुरबाला ने कहा, "अच्छा दिखाओ।"

"सींक ठीक नहीं लगी जी", "पत्ता ऐसे लगेगा" आदि-आदि संशोधन कर चुकने पर मनोहर को हुक्म हुआ—

"थोड़ा पानी लाओ, भाड़ के सिर पर डालेंगे।"

मनोहर पानी लाया।

गंगाजल से कर-पात्रों द्वारा वह भाड़ का अभिषेक करना ही चाहता था कि सुर्रो रानी ने एक लात से भाड़ के सिर को चकनाचूर कर दिया।

सुरबाला रानी हँसी से नाच उठीं। मनोहर उत्फुल्लता से कह-कहा लगाने लगा। उस निर्जन प्रांत में वह निर्मल शिशु-हास्य-रव

लहरें लेता हुआ व्याप्त हो गया। सूरज महाराज बालकों-जैसे लाल-लाल मुँह से गुलाबी-गुलाबी हँसी हँस रहे थे। गंगा मानो जान-बूझ-कर किलकारियाँ मार रही थी।

और—और वे लम्बे ऊँचे-ऊँचे दिग्गज पेड़ दार्शनिक पंडितों की भाँति हास्य की सार-शून्यता पर मानो मन-ही-मन गंभीर तत्त्वालोचन कर हँसी में भूले हुए मूर्खों पर थोड़ी दया बख्शना चाह रहे थे।

६

मेहमान

राजेन्द्र यादव (जन्म सन् १६२६ ई०) 'नई कहानी' के जन्मदाताओं में से हैं। आगरा कॉलेज से एम० ए० पास करने के बाद आप स्वतन्त्र लेखन में लग गए और कथा-साहित्य के निर्माता एवं विवेचक के रूप में ख्याति प्राप्त की। 'सारा आकाश', 'उखड़े हुए लोग', 'कुलटा', 'शह और मात' आदि आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। आपके कहानी-संग्रहों में 'देवताओं की मूर्तियाँ', 'खेल-खिलौने', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'छोटे-छोटे ताजमहल' आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। कथा-विवेचक के रूप में भी राजेन्द्र यादव को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।

नई कहानी का मुख्य बल प्रामाणिकता पर है। किसी आरोपित आदर्श के निमित्त कहानी लिखना नए कहानीकार को मान्य नहीं, वह मनोविज्ञान अथवा दर्शन के सूत्रों में भी उलझना नहीं चाहता। राजेन्द्र यादव की मान्यता है कि "वर्तमान क्षण, व्यक्ति का निजी अनुभव और अपना परिवेश—यही कहानी में वास्तविक विश्वसनीयता दे सकते हैं।" अस्तु इतिहास अथवा अतीत और आदर्श अथवा फार्मूला आज की कहानी का आधार नहीं बन सकता। इस कहानी की भाषा लाक्षणिकता एवं सूक्ष्मता को लिए होती है, इसका मुख्य गुण संप्रेषण है।

'मेहमान' राजेन्द्र यादव की प्रसिद्ध कहानी है। इसमें आने वाले अतिथि पर प्रभाव डालने की इच्छा से स्वयं प्रभावित होने वाले व्यक्ति की मनोदशा का वर्णन है। वह इतना उत्सुक रहता है उस

असाधारण अतिथि से घनिष्ठ होने के लिए कि अपना सब कुछ उसको हीन लगता है, बात करने में भी वह हकला उठता है। अपने घर को असामान्य रूप से सजाता है, प्रभावित करने के लिए, उसको खीझ होती है अपनी सीमाओं पर। बेकरी की दुकान पर मेहमान ने दो-तीन फोन किए परन्तु पैसे देते समय ''उनकी जाकेट के बटन ही नहीं खुले थे''।

सारी कहानी प्रामाणिक है, ऐसा ही अनुभव ऐसी परिस्थिति में होता है। भाषा की दृष्टि से भी इस कहानी को श्रेष्ठ माना जाएगा। बीच-बीच में रोचक संकेत हैं। 'अच्छा' या 'बुरा' जैसे वर्गों को लेखक ने बचाने का प्रयत्न किया है। यथार्थता के कारण राजेन्द्र यादव गालियों को भी बचाने का प्रयत्न नहीं करते। परिवेश का चित्रण इस कहानी में सफल हुआ है।

मेहमान

वे आएँगे, इस बात का तनाव मेरे ऊपर सुबह से सवार था।

लेकिन जब वे आ गए, तो यह भी पता नहीं चल सका कि किसी सवारी से आए हैं या पैदल। दरवाज़े पर बहुत ही हलके-से ठक्-ठक् हुई। मुझे उनका इन्तज़ार था, इसलिए फौरन समझ गया कि वे ही हैं। लगा जैसे नीचे एक बहुत लम्बी गाड़ी आ खड़ी हुई है और वे उससे उतरकर ऊपर चले आए हैं। मैंने अपने हिसाब से घर काफी सँवार दिया था। लेकिन जब ठक्-ठक् हुई तो घबराकर चौंक उठा, साथ ही मुझे लगा कि आवाज़ में ही ऐसा कुछ महान् और शालीन है कि उनके सिवाय और कोई हो ही नहीं सकता। मैंने इशारे से पत्नी को बताया, वे आ गए हैं। लपककर दरवाज़ा खोला। बड़ा भव्य वेश था, कुर्ता-धोती, कंधों पर कीमती शाल, बड़ा प्रभावशाली मोहक चेहरा, खुली हुई आत्मीय प्रसन्न मुद्रा—शायद एक प्रभामण्डल बिखेरती-सी। अपने भविष्य के व्यक्तित्व की जैसी मैं कल्पना किया करता था, ठीक वही रूप था। मैंने नमस्कार के साथ ही कहा, 'मैं आपकी ही प्रतीक्षा कर रहा था।' लगा, कुछ और कहना चाहिए था। वे बड़े ही सहज अपनेपन से मुसकराए। मेरे कंधे पर हलके-से हाथ रखा और भीतर आ गए, 'सभी हैं?'

'जी···' मैंने हकलाहट रोककर कहा, 'हम सब आपके इन्तज़ार में ही थे। लेकिन आपके आने का पता ही नहीं चला। मैं तो सुबह से कई बार नीचे सड़क पर झाँक आया था, हर आहट पर कान लगाए बैठा था। दो बार पानवाले की दुकान तक हो आया, उसे भी कहा कि हमारे एक मेहमान आनेवाले हैं, कोई आकर पूछे तो घर बता

देना…' लेकिन हो सकता है, मैंने यह सब उनसे न कहा हो और सुबह से अब तक की अपनी परेशानी को दुहरा-भर लिया हो मन-ही-मन। कहा इतना ही, 'पता तो था ही कि आप आज आएँगे। कल भी सोचा था कि शायद एक दिन पहले चले आएँ…अकेले ही हैं ?'

'हाँ भाई, अपना कुछ ठीक थोड़े ही है।' उन्होंने शायद 'रमते-राम' शब्द को दबा लिया। 'किस दिन कहाँ होंगे, बस इतना पता होता है।'

मैं आगे-आगे चलता हुआ, हाथ धोने की मुद्रा में मुट्ठियाँ मसलता-सा उन्हें लिए अन्दर आ रहा था, जैसे गलीचे पर ला रहा होऊँ। 'कोई सामान नहीं है ?'

'सामान ?' वे संयत-से हँसे, 'तुम्हारे यहाँ सामान लेकर आता ? देख रहा हूँ, तुमने काफी कुछ जमा लिया है।'

'सब आपकी कृपा है' के भाव से मैंने हैं-हैं की मुद्रा बनाई। सामान नहीं है तो कोई बात नहीं। यह पुष्पा ससुरी कहाँ चली गई ? जब भी कोई ऐसा आदमी आता है, तो यह अदबदाकर रसोई में घुसी रहती है और स्टोव इत्यादि की आवाज़ पैदा करके ऐसा भाव दिखाती है, जैसे बाहरी दुनिया का इसे कुछ भी पता नहीं। इस कम्बख्त को अहसास ही नहीं है कि हमारे यहाँ कितना बड़ा आदमी आया है।

मैंने बैठक को बड़े ढंग से सजाया था। सारी व्यवस्था उलट-पुलट दी थी। ऐसी कोशिश की थी कि बैठक सारे दिन उठने-बैठने-सोने की जगह न लगे और आभास हो, जैसे उनकी तरह के मेहमानों के लिए ही रखा गया स्वतन्त्र कमरा है और इसका उपयोग हमेशा ही नहीं होता। गद्दियों के कवर, पर्दे, मेज़पोश सब बदल दिए गए थे। मेज़ पर घड़ी और किताबें रख दी गई थीं। ये किताबें अभी तक चारपाई के नीचे बँधी धूल खा रही थीं। कुछ नई किताबें माँग लाया था, पुरानी में से चुनकर निकाली थीं। बी० ए० में पढ़ी 'गोल्डन ट्रेज़री' और रस्किन के निबन्ध मुझे मेज़ पर रखने लायक लगे थे। पैन, स्वान-इंक, कुछ पत्रिकाएँ, फूल खिले काँच का गोल पेपरवेट, सभी झाड़-पोंछकर रखे थे। हर चीज़ के वे हिस्से छिपा दिए थे, जो

मुझे खुद फूहड़ लगते थे। आज का अखबार बड़े ढंग से मेज़ पर इस तरह रख दिया था, जैसे उसे पढ़ते-पढ़ते ही मैं दरवाज़ा खोलने गया था। किसी गंभीर लेखक की मोटी-सी किताब यों मेज़ पर डाल दी थी कि लगे, रात को मैं इसका अध्ययन कर रहा था। रबर वाले स्लीपर भी लापरवाही से मेज़ के नीचे 'व्यवस्थित' कर दिए थे। मेरा सारा घर उन जैसे बड़े मेहमान के लायक भले ही न हो, मगर मैं ऊँचे मूल्यों में सन्तोष खोजनेवाला व्यक्ति हूँ, यह प्रभाव मैं उन पर डालना चाहता था।

वे सन्तोष और हलकी थकावट से आकर कुर्सी पर बैठ गए। उन्होंने बड़े आराम से दोनों पाँव ऊपर समेट लिए और मुझे बेचैनी होने लगी कि पुष्पा अभी तक क्यों नहीं आ रही ? मुझे अपनी बैठक, मेज़-कुर्सियाँ सारा घर बहुत ही बेकार और साधारण लगने लगा। चाहे कुछ कर लो, यह घर एक फटीचर क्लर्क का घर लगता है, उन जैसे सम्मानित मेहमान के लायक बिलकुल भी नहीं। यह अनुभूति मुझे उनके भीतर कदम रखते ही होने लगी थी, हालाँकि हफ्तों से मैं अपने मन को समझा रहा था कि जैसा बेकार सब-कुछ मैं सोच रहा हूँ, वैसा सब मिलाकर शायद नहीं है। फिर बड़े लोग दूसरों की मजबूरियाँ समझते हैं और ऐसी छोटी-मोटी बातों पर बिलकुल भी ध्यान नहीं देते। लेकिन अब लगा, इन कुर्सियों को तो इनके घर के ईंधन के काम में लिया जाता होगा। हालाँकि फौरन ही मैंने अपने को सुधार लिया—इनके यहाँ ईंधन थोड़े ही जलता होगा, बिजली और गैस के नए साधन होंगे…लेकिन निश्चय ही ऐसे पर्दों और मेज़पोश से इनके यहाँ फर्श पोंछे जाते होंगे…ऐसी किताबें तो इनके यहाँ के बच्चे और नौकर पढ़ते होंगे, इनके नौकरों के घर मेरे घर से लाख दर्जे अच्छे होंगे…यह इनकी महानता ही है कि ऐसे आराम और बेतकल्लुफी से आकर बैठ गए हैं…

मैं अपनी बेचैनी छिपाने के लिए एक बार बालकनी में घूम आया, व्यर्थ पड़ी दियासलाई की सींक को बाहर फेंक दिया। नीचे झाँककर देखा, मकान-मालकिन बड़े बेहया ढंग से बैठी कपड़ों में साबुन लगा

रही थी। इस मूर्ख को क्या पता कि ऊपर मेरे यहाँ कौन बैठा है ? बड़ा अपने को लाटसाहब लगाते हैं ये लोग, यहाँ गंदा मत करो, वहाँ कोयले मत कूटो, सीढ़ियों में चारपाइयाँ मत रखो—एक दिन किराया न दो, तो घर छोड़ने की धमकी। तुम्हारे जैसे बीस मकान खरीदकर फेंक दें ये। साले अपने स्कूटर की ऐसे सफ़ाई करेंगे, जैसे ऐरावत को नहला रहे हों—इनके पास दर्जन-भर एक-से-एक खूबसूरत गाड़ियाँ हैं…

'माफ कीजिए, मैं अभी आया।' मैंने धीरे से कहा और डरते हुए-से चौके में चला गया। 'पुष्पा, तुम भी अजीब औरत हो !' झल्लाकर गला-भिचे स्वर में मैंने उसे झिड़का, 'वे आ गए हैं और तुमने अभी तक साड़ी भी नहीं बदली !'

'आ गए ?' पहले तो वह चौंकी, फिर अपनी उसी व्यस्तता से बोली, 'अभी बदलती हूँ। चाय का पानी रख दूँ…' लीजिए साहब, अब चाय का पानी रखा जाएगा। भीतर वे बैठे हैं और यहाँ अब चाय का पानी रखने की शुरूआत होगी। प्लेटों में मैंने मिठाई-नमकीन पहले ही रख दिए थे, उन्हें एक बार फिर से देखा, एक-एक प्लेट में इस तरह फैला-फैलाकर रख दिया कि कम न लगे, फिर भी लग रहा था कि बेहद कम हैं और घर का दीवालियापन उजागर होता है। फल सुबह नाश्ते में दिए जाते हैं या खाने में—मुझे याद ही नहीं आ रहा था। अकेले बैठे हैं, के बोझ से फिर मैं बैठक में लपक आया।

पलँगपोश आज ही सन्दूक से निकालकर बिछाए थे और उनकी तहोंवालों निशानों को देखकर कोई भी समझ सकता था कि ये रोज़ नहीं बिछाए जाते। मैंने हाथ फेरकर सलवटें ठीक की। एक तरफ के छेद को सावधानी से दबा दिया। फिर भी संतोष नहीं हुआ—की कचोट लिए मैं बैठक में आ गया। वे अखबार फैलाकर कुछ देखने लगे थे। हाँ, उन्हें तो देश-विदेश की जानकारी रखनी होती है। एक निगाह में सारी परिस्थिति भाँप जाते होंगे, हमारी तरह शुरू से आखिर तक पढ़कर भी बात समझ में न आने की शिकायत उन्हें थोड़े ही होती होगी। उनकी महत्त्वपूर्ण एकाग्रता में मैंने बाँधा दी है—

क्षमा-भाव से मैं कुर्सी पर ज़रा-सा टिककर बैठ गया। समझ में नहीं आया, क्या बात करूँ। 'आपको तकलीफ तो नहीं हुई?' यही सवाल उस समय सूझा। बेवकूफ, उनके लिए ट्रेन में बैठना, जैसे अपने कमरे में बैठना है।

'तकलीफ काहे की?' उन्होंने अखबार से सिर उठाया, 'मुझे सब आदत है।'

'यहाँ उस तरह की सुविधाएँ तो नहीं हैं।' मैंने नम्रता से अपने और इस सारे घर के लिए माफी माँगी।

'क्या बातें करते हो? अपना ही घर है। सभी अपने-अपने घर में यों ही रहते हैं।' वे आत्मीयता से बोले, 'तुम मेरे लिए कुछ भी विशेष मत करो···'

'जी, वो तो मैं जानता हूँ।' मैंने हलके से सन्तोष से कहा। आप महान् हैं, इसलिए ऐसा कह रहे हैं, वरना क्या मैं जानता नहीं हूँ कि आप कैसे रहते हैं, कैसे हैं और यह सब कितना तुच्छ है। एक क्षण को लगा, हो सकता है जैसी बेचैनी मैं महसूस कर रहा हूँ, वे बिलकुल भी न कर रहे हों और सचमुच आराम से हों···मैं नीचे पैरों की तरफ देखने लगा, लो, अभी तक मैं नंगे पाँव ही घूम रहा था। जाने क्या सोचेंगे? बौखलाकर एकदम कुर्सी के पास रखे स्लीपर पहनने की इच्छा हुई। लेकिन बहुत साफ हो जाएगा। धीरे और बेमालूम तरीके से पहनूँगा·· उँगलियों और अँगूठों को ऊपर सरकाते हुए मैंने पूछा, 'आप नहाएँगे या मुँह-हाथ धोएँगे?' बात मुझे खुद बहुत बेवकूफी की लगी। हो सकता है, इस समय वे चाय ही पीते हों। कुछ तो पिलाना ही चाहिए था।

'सब कर लेंगे भाई, यहीं तो हैं।' वे आत्मीयता से बोले, 'पुष्पाजी नहीं दीख रहीं। तुम्हारे एकाध बच्चा भी तो है न, कहीं पढ़ता है?'

'जी, वह स्कूल गया है। पढ़ता है। क्या करें, यहाँ कोई अच्छा स्कूल ही नहीं है। हमने तो बहुत कोशिश की···' हालाँकि मैंने उसे अपनी हैसियत से ऊँचे स्कूल में दाखिल करवा रखा था और 'अच्छे

स्कूलों' के खर्चों को सोचकर उनके बारे में पता भी नहीं लगाया था। जिस स्कूल में इस समय वह था, उसे लेकर अपनी तरह मुझे गर्व भी था; लेकिन इस समय मुझे लगा, जैसे वह अनाथालय में जाता हो। बोला, 'दोपहर को बस छोड़ जाएगी।' सोचा, पता नहीं, आज पुष्पा को समय भी मिलेगा या नहीं कि जाकर उसे स्कूल से लिवा लाए।

सहसा पुष्पा ने कमरे में प्रवेश करके मुझे उबार लिया। वह चाय की ट्रे लेकर आयी थी। उन्होंने ऊपर समेटे हुए पाँव एकदम नीचे कर लिए। जूते टटोलते हुए से उठ खड़े हुए, 'नमस्ते पुष्पाजी, कैसी हैं?'

'आप बैठे रहिए न,' कहते हुए मैंने बढ़कर पुष्पा के हाथ से ट्रे ले ली। उसे सावधानी से मेज़ पर रखकर उससे कहा, 'तुम भी बैठो न···'

वह साड़ी का पल्ला सिर पर ठीक करके नमस्कार कर चुकी थी। 'आपने बड़ा इन्तज़ार कराया, ये तो दो हफ्ते से परेशान थे कि आप आएँगे···'

उन्होंने गद्‌गद् ढंग से मेरे कंधे पर हाथ रख दिया, 'ये तो इनकी आदत है।'

'हाँ, यही तो मैं कहती हूँ कि आ रहे हैं तो आएँ। उनका घर है। उसे लेकर इतना तूफान मचाने की क्या ज़रूरत है? देखिए, मैं तो आपके लिए कुछ भी खास नहीं करूँगी। जैसे हम खाते रहते हैं, उसी तरह आपको भी रहना पड़ेगा···'

तुम तो झाड़ू लगवाओगी इनसे···मैंने भीतर दाँत भींचकर दुहराया। न मेहमान की हैसियत देखती है, न उम्र। यह बात ज़रूर कहती है। कहा था, साड़ी बदल आओ, लेकिन उसी में चली आ रही है। कोई खयाल ही नहीं कि कौन आया है कहाँ से आया है?

'हाँ, हाँ, सो तो है ही।' मेहमान की इस बात के जवाब में पुष्पा केतली से टिकोज़ी उतारती हुई कह रही थी, 'हम तो देखिए, किसी के लिए कुछ कर भी नहीं सकते। साधारण-सी हैसियतवाले

लोग हैं। दाल-रोटी खाते हैं, वही आपको भी दे देंगे···'

जी हाँ, सब बता दीजिए कि हम तो भूखों मरते हैं। ये मिठाई और नमकीन सिर्फ आपके लिए ले आए हैं, वरना हमें कहाँ नसीब। इनसे कहकर कोई अच्छी-सी नौकरी लूंगा और फिर इसे मिठाई और फलों से ही न लाद दिया, तो मेरा भी नाम नहीं। इस औरत से मैं इसीलिए परेशान हूँ कि मुझे कहीं भी सहयोग नहीं देती। हमेशा यही सिद्ध करेगी, जैसे मैं दुनिया का सबसे बड़ा बेवकूफ और कम-हैसियतवाला आदमी हूँ और जो हमारे यहाँ आया है, वह सड़क पर सफाई करनेवाला जमादार है! यह शायद जान-बूझकर मानने को तैयार नहीं है कि इनके हमारे यहाँ आने का क्या अर्थ है? इससे हमारी इज्जत कितनी बढ़ी है? जाने कितने ऊँचे-ऊँचे तो इनके सम्पर्क हैं। वह तो इनकी कृपा है जो यहाँ आ गए हैं, वरना अशोका और ताज में रुकनेवाले आदमी हैं। इस समय यहाँ यों कुल्हड़-छाप चाय पी रहे होते? इस समय इनके चारों तरफ छः बैरे मँडरा रहे होते, सेक्रेटरी बैठा सारी हिदायतें नोट कर रहा होता, टेलीफोन घनघना रहे होते···नीचे लकदक वर्दी में बैठा ड्राइवर झटके से निकलकर दरवाज़ा खोलता·· और मुझे फिर लगा, जैसे नीचे सड़क पर हवाई जहाज़नुमा गाड़ी खड़ी है।

मैं कुछ-कुछ अपराधी और कुछ-कुछ झल्लाए मन से प्लेटें ट्रे में से निकाल-निकालकर बाहर रखने लगा। मिठाई-नमकीन मैं मुहल्ले की सबसे अच्छी दूकान से लाया था, लेकिन इस समय सब एकदम घटिया और बदसूरत लग रही थी, उनमें 'बाज़ार' की गंध थी। प्लेट-प्याले हमारे यहाँ एक भी ऐसे नहीं हैं कि उनमें ढंग के आदमी को कुछ दिया जा सके। ट्रे में बिछी तौलिया धोबी के यहाँ एक बार धुलकर कैसी खजैली-सी हो गई है। तौलिया का एक कोना भी उठ आया है और नीचे ट्रे पर छपा कपड़ा-मिल का विज्ञापन झाँकने लगा है। सोचेंगे, सालों ने मुफ्ती ट्रे लाकर रख छोड़ी है। मैंने फुर्ती से वह कोना दबाकर उसे ढँक दिया। मुझे चाय बेस्वाद इसलिए भी लगती रही कि उनके पास कोना झड़ा कप पहुँच गया था। खैरियत

यही थी कि उनका ध्यान उधर नहीं गया था। वे हँस-हँसकर पुष्पा से बातें कर रहे थे। चलो, कहीं तो घर-जैसा महसूस कर रहे हैं···

'तुम्हें ऑफिस नहीं जाना···?' उन्होंने सीधे मुझसे ही पूछा, तो मैं चौंक उठा।

'बात यह है कि मैंने आज की छुट्टी ले रखी है। सोचा, आपके आने के बहाने दफ्तर की दुनिया से बाहर रह लेंगे।' मैं बिना सोचे-समझे बोल पड़ा।

'बेकार!' वे नाराज़ हो गए, 'ये सब तकल्लुफ करने की क्या ज़रूरत है? मुझे तो आज पता नहीं, किस-किससे मिलना है। हो सकता है दोपहर को खाना भी न खाऊँ···'

'वाह, यह कैसे हो सकता है?' पुष्पा ने अधिकार से कहा, 'आप कहीं भी बाहर नहीं खाएँगे।'

'देखो पुष्पा, मैं शाम को कहीं नहीं खाऊँगा, लेकिन दोपहर के लिए मुझसे ज़िद मत करो।' वे अपनेपन से अन्तिम फैसले की तरह बोले। यानी दोपहर के लिए हम लोगों ने जो इतनी चीज़ें बनाई हैं, वे बेकार ही चली गईं। वे शाम को थोड़े ही चलेंगी। शाम के लिए सब्ज़ियाँ वगैरह और लानी होंगी।

'तुमने छुट्टी ले ही ली है, तो चलो आज हमारे साथ ही रहो। कुछ लोगों से मिला देंगे। हो सकता है, कभी तुम्हारे काम ही आ जाएँ।' उन्होंने इतमीनान से मिठाई मुँह में डालकर चाय का घूँट भरा।

'जी, मैं तो खाली ही हूँ।' मैं बोला।

'मैं दो मिनट में खाना बनाए देती हूँ, आप लोग खाकर ही निकलें।' पुष्पा फुरती से उठती हुई बोली।

'तो ये पुष्पाजी से पुष्पा पर आ गए!'

'नहीं, पुष्पा, इस समय नहीं।' उन्होंने आग्रह किया, 'मैं ज़रा हाथ-मुँह धोते ही निकलूँगा।'

'रहने दो फिर,' मैं मजबूरी के भाव से बोला। मैं नहीं चाहता था कि पुष्पा उन्हें दो मिनटवाला खाना खिलाए। 'माफ कीजिए,

अभी आता हूँ ।' कहकर मैं जल्दी से उठा और गुसलखाने पहुँच गया । उल्लू के पाट्ठों ने कैसा छोटा-सा गुसलखाना बनवाया है, एक खूँटी तक तो लगाई नहीं है। बोलो, नहानेवाला तुम्हारे सिर पर कपड़े लटकाएगा ? भीतर से किवाड़ बन्द करके गुसलखाना मैंने झाड़ू से धो दिया। बीवी को तो इस छोटी-सी बात का खयाल आएगा नहीं। साबुनदानी साफ की, तेल की शीशियाँ करीने से लगायीं, नया साबुन खोलकर रखा और पटरा साफ कर दिया। कोने से एकाध जाला झाड़ा और मुँह धोकर इस तरह निकला जैसे इसी काम के लिए गया था। इनके यहाँ तो शानदार गुसलखाना होगा। गरम-ठंडे पानी के टब होंगे, गुसलखाना गरम रखने का प्रबन्ध होगा। टब, वाश-बेसिन, कमोड सब नई से नई डिज़ाइन के होंगे—जैसे सिनेमा और होटलों में देखे हैं। क्या करें, अपने यहाँ तो यही है। मैंने मजबूरी में साँस ली। पता नहीं, कभी नसीब में होगा भी या नहीं।

पुष्पा इस बीच उनसे काफी खुल गई थी और हँस-हँसकर बातें कर रही थी। जब मैं आया तो वे उसकी तरफ इस तरह देख रहे थे, जैसे उसकी सुन्दरता को निहार रहे हों। चलो, अपनी बेवकूफी और गैर-दुनियादारी के बावजूद अगर वह उन्हें एट-होम महसूस करा सकती है तो क्या हर्ज है। लेकिन महाराज, आप मेहमान हैं, इसलिए यह दूरी बरत रही है, इज्ज़त करने का भाव दिखा रही है, वरना यह तो आपके सिर पर सवार हो जाएगी। होंगे आप अपने घर के महान्, यह एक बार अगर मुँह लग गई, तो किसी की महानता नहीं रखती। आपको पता नहीं है, यह कितनी उजड्ड और गँवार है, न किसी को महान् मानती है, न मेहमान···इसके लिए···

चाय पी जा चुकी थी। मुझे पता है, पुष्पा ने एक बार भी इनसे किसी चीज़ को लेने का आग्रह नहीं किया होगा, जो खुद ही ले लिया, सो ले लिया। आप संकोच करें, तो आपकी बला से। अजीब खुदगर्ज़ औरत से पाला पड़ा है। मैं अगर ज़रा हाथ खींच लूँ तो न घर में कोई व्यवस्था रहे, न सिलसिला। घर के ज्यादातर काम

अपने ज़िम्मे लेकर मैंने इसकी आदतें खराब कर दी हैं। अगर शुरू से ही सख्ती रखता, तो एकदम सीधी रहती।

उन्होंने कन्धों का चादरा उतारकर कुर्सी की पीठ पर रखते हुए गुसलखाने की ओर जाने के भाव से पूछा, 'यहाँ आसपास टेलीफोन तो होगा ? मुझे अपने आने की खबर करनी थी दो-एक लोगों को। तुम्हारे सिवाय किसी को भी नहीं बताया है। अजी, लोग चैन लेने देते ?'

'जी, यहाँ तो नहीं है। बाहर निकलेंगे, तो बेकरीवाले के यहाँ से कर लेंगे।' मैं अपराधी की तरह बोला। उन्होंने सिर्फ मुझे ही सूचना लायक समझा, इस बोझ से झुककर मैंने सोचा, आप चाहें तो शाम तक यहीं टेलीफोन लगवा सकते हैं। आपके परिचय-प्रभाव क्या कम हैं ? आप क्या नहीं कर सकते ? एक बार इच्छा प्रकट कर दें, जनरल-मैनेजर खुद अपनी देख-रेख में फोन लगवा दे। और यह सब सोचकर उनकी मूर्ति मेरे दिमाग में और भी बड़ी हो गई, इसी तुलना में पुष्पा मुझे और भी फूहड़ और कमीनी लगी। साड़ी लपेटने का यह भी कोई ढंग है, लगती है जैसे साहब लोगों की आया हो। उनके ऐश्वर्यशाली वातावरण के बीच जब मैंने उसे रखकर देखा तो लगा, जैसे वह चन्दा माँगने आनेवाली शरणार्थी औरतों जैसी लगती है। लेकिन यह मुझे शुरू से ही लग रहा था कि वह जान-बूझकर उन्हें महान् आदमी मानने से इन्कार करती रही है। इसके यहाँ तो साक्षात् भगवान् भी आ जाए, तो साले को कुत्ता बनाकर रद्द कर देगी। अरे, तुम मेरी तिल-भर इज्ज़त नहीं करतीं, न सही; लेकिन जितनी इज्ज़त मैं दूसरे की करता हूँ, उतनी तो कर ही सकती हो। ऐसा बड़ा आदमी मेरे यहाँ मेहमान है, यही सोचकर थोड़ी-बहुत इज्ज़त मुझे भी बख्श देतीं तो क्या टोटा पड़ जाता ? लेकिन उस कूढ़-मग्ज़ से ऐसी उम्मीद ही बेकार है।

वहीं खड़े-खड़े ही पुष्पा कहीं इशारा न कर दे, 'गुसलखाना उधर है। चले जाइए !' इस डर से मैं आगे-आगे हो लिया, 'इधर आइए, आपको गुसलखाना दिखा दूँ !' हुँह, जैसे ताजमहल हो। लेकिन मैं

उन्हें आगे-आगे वहाँ तक छोड़ आया। 'मैं अभी गरम पानी लाता हूँ।' मैं रसोई की तरफ लपका। केतली में पानी खौल रहा था। उसे बाल्टी में उँडेलकर लाया, तो भीतर वे ठंडे पानी से ही हाथ धो रहे थे। मैं घबरा उठा, 'अरे, अरे, ये क्या कर रहे हैं? यह गरम पानी है।'

जब उन्होंने दरवाज़ा बंद कर लिया, तो मैं पुष्पा के पास आया, 'वहाँ से बर्तन तो उठा लो···' अगली बात दबा गया, बेकार इस समय चखचख होगी।

'अभी उठा लेती हूँ। आप शाम के लिए सब्जी लाकर रख देना।'

लीजिए साहब, यह साली अलग समस्या लाकर खड़ी कर दी। चुटकी बजाते ही विकटतम समस्याएँ खड़ी कर देना उसके लिए कितना आसान है। हमेशा आड़े वक्त में उसे ऐसे काम याद आते हैं। वो तो आटा पिसवा लिया था, वरना उसकी भी फरमाइश इसी समय हो सकती थी। झल्लाहट पीकर कहा, 'तुम मँगवा लेना किसी से। मुझे तो इनके साथ जाना होगा। नहीं जाऊँगा तो बुरा लगेगा।'

उसने बुरा-सा मुँह बनाया, यानी मैं उन्हें ज़रा-सी देर बैठाकर सब्ज़ी ला सकता हूँ। इन्हीं से सब्ज़ी लाने को न कह दूँ? उनकी उपस्थिति में ही यह मुझसे कोई ऊँची-नीची बात कह सकती है, इसलिए जल्दी से जल्दी निकल जाने में भलाई है।

कल ही सूट पर प्रेस करा लिया था, लेकिन पहनकर लगा, इसे धुला लेना चाहिए था। सामने शीशे में बटलर खड़ा था। धुला लेने से ही क्या होता है, कपड़ा तो वही कबाड़िया है। न जाऊँ साथ? नौकर जैसा लगूँगा। अपने पास तो कहीं आने-जाने लायक कुछ भी नहीं है। कोट की बाँहों से कमीज़ के गन्दे कफ-कॉलर ढँकते हुए भी खयाल रहा कि ये कोई ढँके हुए थोड़े ही रहेंगे। जब भी किसी काम के लिए हाथ बढ़ाऊँगा तो दीखेंगे। जेब में कुल बारह रुपये थे, खुशामद से कहा, 'यार दस-पाँच रुपये दे दो न, पता नहीं कहाँ जरूरत पड़ जाए।'

'अभी तो महीना पड़ा है। मेरे पास कुल बीस···'

'तो वही दे दो, कहीं से मँगा लेंगे । मैंने उसकी वात के बीच में ही जल्दी मचाने के ढंग पर कहा। कम्वख्त, इसी समय सारे महीने का हिसाब समझाएगी। अभी वे निकल आएँगे तो सब धरा रह जाएगा।

वे ताज़े होकर निकले थे। हम लोग इस तरह 'सँभल' गए, जैसे नेपथ्य से निकलकर स्टेजपर आ गए हों। कन्धे में मैल और जनाने बालों का गुच्छा उलझा था, उन्हें हाथ से साफ करके कमीज से पोंछते हुए, तेल की शीशी लिए बाहर बैठक में निकल आया। 'गोले का तेल है।' मैंने इस तरह बोतल पेश की कि अगर चाहें तो वे न लें। जवाकुसुम की शीशी कितने की आती होगी ?

'ठीक है।' लापरवाही से वे बोले। चुन्धा-सस्ता शीशा है, मैं कहते-कहते रुक गया। उसे अपने कोट पर ही रगड़कर सामने कर दिया। उन्होंने इतमीनान से कन्घा-तेल किया।

'चलिए, आपको भी घुमा लाएँ···' वे हँसकर पुष्पा से बोले।

'ये अब कहाँ···आपको तो पता नहीं, कहाँ-कहाँ जाना हो।' मैंने इस तरह प्रतिवाद किया, जैसे वह सचमुच ही चलने को कह सकती है। भीतर गहरी साँस ली, काश मेरी बीवी ऐसी होती कि आप जैसे आदमी के साथ चलती, पढ़ी-लिखी और सलीकेवाली। छुरी-काँटा पकड़ना तक तो आता नहीं है। मैं भी कहाँ जानता हूँ ? लेकिन इसे तो ढंग के बाल बनाने भी तो नहीं आते।

'आते वक्त कुछ केले-सन्तरे लेते आइए···' लीजिए साहब, निकलते-निकलते एक फरमाइश दाग ही दी। कद्दू-काशीफल के लिए नहीं कहा ? मन हुआ, वापस जाकर दोनों हाथों से गला दबा दूँ··· अरे, जिससे सब्जी मँगाओगी, उससे यह सब नहीं मँगा सकती ? क्यों मेरी फजीहत कराने पर तुली हो ? दो-चार आने ज्यादा ही तो दे आएगा न वह।

मैं अनसुनी किए एक तरफ हटकर खड़ा रहा। वह बेखबर अपने मसूड़े दिखाती उनसे जल्दी आने को कहती रही। इसके चेहरे का भाव कितना सख्त है। वह कहीं और खाकर न आने का अनुरोध कर

रही थी।

सड़क पर मैं उनकी बौनी छाया की तरह चल रहा था। काश, सड़क पर निकलते ही गंदी नालियाँ, खाली टीन, कागज के थैले न पड़े होते, आस-पास के बच्चे कुछ तमीजदार ढंग से कपड़े पहने होते और औरतें पेटीकोट-ब्लाउज पर कुछ और डाल लेतीं, कुत्ते झबरे और खूबसूरत होते। बाहर निकलकर मैंने कुछ इस तरह देखा था, जैसे उनकी जहाजगाड़ी को तलाश कर रहा हूँ। इस गाड़ी का अहसास मेरे दिमाग पर लगातार खुदा हुआ था।

बेकरीवाले की दूकान पर मैंने भरसक लापरवाही और आत्म-विश्वास से कहा था, 'भाई, एकाध फोन करेंगे···' कभी दस पैसे का बिस्कुट भी न लेने आनेवाले इस 'आदमी' को बेकरीवाले ने भी आश्चर्य से देखा था। वह फोन की तरफ इशारा करके उसी संजीदगी से सामने खड़े किसी नौकरनुमा के लिए पहिया घुमा-घुमाकर स्लाइसें तराशता रहा।

घड़ी पर लहराती कुर्ते की भव्य आस्तीनवाले हाथ से टेलीफोन उठाकर वे डायल घुमाने लगे। साले, तुझे क्या पता कि मेरे साथ कौन हैं? जिन टॉफी और बिस्कुटों को सारे दिन खड़े-खड़े बेचा करता है, उनकी चार-छ: तो मिलें होंगी इनकी। मिल होती हैं या फैक्टरी? तुझ जैसे नौकर इनके ऑफिस में घुसने की हिम्मत नहीं कर पाते होंगे। हो सकता है, किसी मिनिस्टर-कमिश्नर से ही बोल रहे हों, 'नहीं जी, मुझे यहीं ठहरना था। अपना ही घर है।' पता नहीं, उधर कौन है? एक अच्छी-सी नौकरी मुझे नहीं दिला सकते?

दो-तीन फोन किए। मैंने जल्दी से रुपया निकालकर दूकानवाले की तरफ बढ़ा दिया। 'अरे, अरे रे···' वे कहते ही रह गए। उनकी जाकेट के बटन ही नहीं खुले थे।

इतने बड़े आदमी, जिनके एक इशारे पर बड़ी से बड़ी सवारी सामने आकर खड़ी हो जाती हो, उनके सामने स्कूटर या बस की बात बड़ी टुच्ची लगेगी। टैक्सी ही ठीक रहेगी। पता नहीं, कहाँ-कहाँ जाएँ, कितना मीटर बने···देखी जाएगी। सुबह का खाना ही खाते,

तो दस-पन्द्रह रुपये ठण्डे हो जाते। यही समझूंगा कि वही रुपये यहाँ खर्च कर रहा हूँ। हो सकता है, मुझे देने ही न दें···और देना पड़ भी गया, तो यह इनवेस्टमेंट है···मैंने टैक्सी को संकेत किया···

उनके बार-बार आग्रह के बावजूद मैं उनकी बगल में न बैठकर ड्राइवर के साथ ही बैठ गया। दिल्ली की टैक्सियों की हालत भीतर से इतनी खराब है, यह मैंने पहली ही बार देखा। फटी-गंदी गद्दियाँ, खटर-खटर चूँ-चूँ की आवाजें···पहिए चाहे जिस स्पीड से चलें, लेकिन मीटर पर पैसे स्पूतनिक की स्पीड से आते हैं। हर बार पैसे बदलने पर मेरे दिल में खट होता था।

बैठे-बैठे मुझे व्यर्थ ही पुष्पा पर गुस्सा आने लगा, साली कमीनी ! मैंने यों ही सोचा। समझ में नहीं आ रहा था कि उनसे क्या बात करूँ ? कुछ नहीं, इन बीवी-बच्चों और गृहस्थी ने किसी भी लायक नहीं छोड़ा। लगा जो कुछ भी बोलूँगा, वह निहायत ही छिछला और व्यर्थ होगा। सोचेंगे, रहा यह टकियल क्लर्क ही। पता नहीं कैसे, उस क्षण मैं पीछेवाले मेहमान को एकदम भूल गया। गँवार, जाहिल, घुन्नी···मैं अगर जूती बराबर नहीं हूँ तो कोई बात नहीं, लेकिन यह तो कमीनेपन की हद है कि किसी को एक दिन को मेहमान मानकर उसकी खातिर न कर सके ! मान लो, एक दिन को कोई बड़ा आदमी अपने यहाँ आ ही गया तब तो···

७

खोई हुई दिशाएँ

कमलेश्वर (जन्म १९३२ ई०) का नई कहानी के विकास में विशेष स्थान है। प्रयाग विश्वविद्यालय से एम० ए० पास करने के पश्चात् कमलेश्वर कथा-साहित्य के निर्माण में लग गए। स्वतन्त्रता के बाद विकसित होनेवाले कथाकारों में राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर का नाम वरिष्ठता एवं श्रेष्ठता दोनों के लिए लिया जाता है। इन कलाकारों ने एक क्षेत्र चुन लिया और उसके विकास के साथ स्वयं भी विकसित होते गए हैं।

कमलेश्वर को प्रथम कहानी-संग्रह 'राजा निरबंसिया' ने ही ख्याति प्रदान कर दी थी। 'खोई हुई दिशाएँ', 'मांस का दरिया', 'जिन्दा मुर्दे', 'कमलेश्वर की श्रेष्ठ कहानियाँ', मेरी प्रिय कहानियाँ उनके अन्य प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं। 'खोई हुई दिशाएँ' उनकी प्रतिनिधि एवं प्रसिद्ध कहानी है। कमलेश्वर मध्यवर्गीय जीवन के कलाकार हैं, यहाँ उनकी प्रगति-चेतना भी सजग रही है। 'कमलेश्वर के पास एक ऐसी यथार्थ जीवन-दृष्टि थी जिसे उन्होंने कभी नहीं छोड़ा।' इनका जगत् विराट् एवं विस्तृत है, ये जीवन के विविध पक्षों का पूरी ईमानदारी के साथ चित्रण करते हैं।

'राजा निरबंसिया' तथा खोई हुई दिशाएँ' कमलेश्वर की विशेषताओं को स्पष्ट कर देती हैं। 'खोई हुई दिशाएँ' कहानी का परिवेश नई दिल्ली का कनॉट प्लेस है, जहाँ महानगरीय सभ्यता में मनुष्य अपने को खोया हुआ पाता है उसका 'दिल और दिमाग इतना थका हुआ' है कि वह टूटता चला जा रहा है। इतनी बड़ी भीड़ में भी

वह अकेला है, आस-पास की रंग-रोशनी, संगीत-समारोह उसके लिए केवल शोर है।' तमाम सड़क हैं जिनपर वह जा सकता है···लेकिन वे सड़क कहीं नहीं पहुँचती।' 'शोर-शराबे से भरे उस सैलाब में वह बहुत अकेला-सा महसूस करने लगा।' चन्दर इस कथा का नायक है, जो महानगर में रहनेवाले अकेले युवक का प्रतीक है। कमलेश्वर की यह कहानी अपने यथार्थ के कारण युग-प्रतिनिधि बन गई है।

खोई हुई दिशाएँ

सड़क के मोड़ पर लगी रेलिंग के सहारे चन्दर खड़ा था। सामने, दायें-बायें आदमियों का सैलाब था। शाम हो रही थी और कनॉटप्लेस की बत्तियाँ जगमगाने लगी थीं। थकान से उसके पैर जवाब दे रहे थे। कहीं दूर आया-गया भी नहीं, फिर भी थकान सारे शरीर में भरी हुई थी। दिल और दिमाग इतना थका हुआ था कि लगता था, वही थकान धीरे-धीरे उतर कर तन में फैलती जा रही है।

पूरा दिन बरबाद हो गया। यही खड़ा सोच रहा था। घर लौटने को भी मन नहीं कर रहा था। आती-जाती एक-सी औरतों को देखकर मन और भी ऊबने लगता था।

भूख···पता नहीं, लगी है या नहीं। उसने दिमाग पर जोर डाला—सुबह आठ बजे घर से निकला था। एक प्याली कॉफी के अलावा तो कुछ पेट में गया नहीं।···ग्रौर तब उसे अहसास हुआ कि थोड़ी-थोड़ी भूख लग रही है। दिमाग और पेट का साथ ऐसा हो गया है कि भूख भी सोचने से लगती है।

निगाह दूर आसमान पर अटक गई। चीलें उड़ रही हैं और मोजे की शक्ल में कटा हुआ आसमान दिखाई दे रहा है।···उसके मोजे कुछ गन्दे हो रहे हैं और आसमान भी मोजे की तली की तरह गँदला पड़ता जा रहा है।···हलकी बदबू-सी उसे लगी और मन भारी हो गया।···उस गँदले आसमान के नीचे जामा मस्जिद का गुम्बद और मीनार दिखाई पड़ रही हैं···उनकी नोकें बड़ी अजीब-सी लग रही हैं।

पीछेवाली दुकान के बाहर चोलियों का विज्ञापन है। रीगल बस-स्टॉप के नीम के पेड़ों से धीरे-धीरे पत्तियाँ झड़ रही हैं। बसें जूं-जूं

करती आती हैं, एक क्षण ठिठकती हैं, एक ओर से सवारियों को उगलती हैं और दूसरी ओर से निगलकर आगे बढ़ जाती हैं। चौराहे पर बत्तियाँ लगी हैं।

बत्तियों की आँखें लाल-पीली हो रही हैं।

आस-पास से सैकड़ों लोग गुजरते हैं पर कोई उसे नहीं पहचानता। हर आदमी या औरत लापरवाही से दूसरों को नकारता या झूठे दर्प में दबा हुआ गुजर जाता है।

और तब उसे अपना वह शहर याद आया, जहाँ से तीन साल पहले वह चला आया था···गंगा के सुनसान किनारे पर भी अगर कोई अनजान मिल जाता तो उसकी नजरों में पहचान की एक झलक तैर जाती थी।···

और यह राजधानी! यहाँ सब अपना है, अपने देश का है···पर जैसे कुछ भी अपना नहीं है, अपने देश का नहीं है।

तमाम सड़कें हैं जिनपर वह जा सकता है···लेकिन वे सड़कें कहीं नहीं पहुँचतीं। इन सड़कों के किनारे घर हैं, बस्तियाँ हैं, पर किसी भी घर में वह नहीं जा सकता। उन घरों के बाहर फाटक हैं, जिन पर कुत्तों से सावधान रहने की चेतावनी है, फूल तोड़ने की मनाही है और घण्टी बजाकर इन्तजार करने की मजबूरी है।

···घर पर निर्मला इन्तजार कर रही होगी···वहाँ पहुंचकर भी पहले मेहमान की तरह कुरसी पर बैठना होगा, क्योंकि बिस्तर पर कमरे का दूसरा सामान लदा होगा और वह हीटर पर खाना पका रही होगी। उन्मुक्त हवा के झोंके की तरह वह कमरे में घुस भी नहीं सकता है और न उसे बाँहों में लेकर प्यार ही कर सकता है···क्योंकि गुप्ताजी अभी मिल से लौटे नहीं होंगे और मिसेज गुप्ता बेकारी में बैठी गप्प लड़ा रही होंगी या किसी स्वीटर की बुनाई सीख रही होंगी। अगर वह चला भी गया तो कमरे में बहुत अदब से घुसेगा, फिर मिसेज गुप्ता से इधर-उधर की दो-चार बातें करेगा। तब बीवी खाना खाने की बात कहेगी। और खाने की बात सुनकर मिसेज गुप्ता अपने घर जाने के लिए उठेंगी।···

और फिर उसके बाद बड़ी खिड़की का पर्दा खिसकाना पड़ेगा··· किसी बहाने खुराना की तरफवाली खिड़की को बन्द करना पड़ेगा। घूमकर मेज के पास पहुंचना होगा और तब पानी का एक गिलास माँगने के बहाने वह पत्नी को बुलाएगा···और तब उसे बाँहों में लेकर प्यार से यह कह सकने का मौका आएगा—बहुत थक गया हूँ !

लेकिन ऐसा होगा नहीं। इतनी लम्बी प्रक्रिया से गुजरने के पहले ही उसका मन झुँझला उठेगा और वह यह कहने पर मजबूर हो जाएगा—अरे, भई, खाने में कितनी देर है ?···सारा प्यार और समूची पहचान न जाने कहाँ छुप चुकी होगी···अजीब-सा बेगानापन होगा। बेकरीवालों के यहाँ भर्राई आवाज में रेडियो गा रहा होगा और गुलाटी के थके कदमों की खोखली आवाज जीने पर सुनाई पड़ेगी।···

गली में कोई स्कूटर आकर रुकेगा और उनमें से कोई अपरिचित आदमी निकलेगा, किसी और के घर चला जाएगा।

मोटरों की मरम्मत करनेवाले गैराज का मालिक सरदार चाबियाँ लेकर घर जाने के इन्तजार में आधी रात तक बैठा रहेगा, क्योंकि उसे पन्द्रह-सोलह साल पुराने मेकैनिक पर भी शायद विश्वास नहीं है।···

और सामने रहनेवाले बिशन कपूर के आने की आहट-भर मिलेगी—पिछले दो साल से उसने सिर्फ उसके नाम की प्लेट देखी है—बिशन कपूर, जर्नलिस्ट। और उसकी शक्ल के बारे में वह सिर्फ यह जानता है कि सामनेवाली खिड़की से जब बिजली की रोशनी छनने लगती है और सिगरेट का धुआँ सलाखों से लिपट-लिपट कर बाहर के अँधेरे में डूब जाता है तो बिशन कपूर नाम का एक आदमी भीतर होता है और सुबह जब उसकी खिड़की के नीचे अण्डे का छिलका, डबल रोटी का रैपर और जली हुई सिगरेटें, तीलियाँ और राख बिखरी हुई होती हैं तो बिशन कपूर नाम का आदमी जा चुका होता है।···

सोचते-सोचते उसे लगा कि मौजे की बदबू और भी तेज होती जा रही है और रेलिंग के पास खड़ा रहना मुश्किल है। जेब से

डायरी निकाल कर उसने अगले दिन की मुलाकातों के बारे में जान लेना चाहा।

—अंग्रेजी दैनिक में पहले फोन करना है फिर समय तय करके मिलना है।···रेडियो में एक चक्कर लगाना है। पिछला चैक रिजर्व बैंक से कैश कराना है और घर एक मनीआर्डर भेजना है।···कल का पूरा वक्त भी इसी में निकल जाएगा। अखबार का सम्पादक परिचित नहीं है जो फौरन बुला ले और खुलकर बात कर ले और कोई बात तय हो जाए। रेडियो में भी कोई बात दस मिनट में तय नहीं हो सकती और रिजर्व बैंक के काउण्टर पर इलाहाबाद वाला अमरनाथ नहीं है जो फौरन चैक लेकर रुपया ला दे। डाकखाने पर व्यापारियों के चपरासियों की भीड़ होगी जो दस-दस मनीआर्डर के फार्म के लिए लाइन में होंगे और एक कागज पर पूरी रकम और मनीआर्डर-कमीशन का मीजान लगाने में मशगूल होंगे। उनमें से कोई भी उसे नहीं पहचानता होगा।

एक क्षण की जान-पहचान का सिलसिला सिर्फ फाउण्टेनपेन होगा, जो कोई-न-कोई हरूफ लिखने के लिए माँगेगा और लिख चुकने के बाद अपना खत पढ़ते हुए वह बायें हाथ से उसे कलम लौटाकर शायद धीरे-से थैंक्यू कहेगा और टिकट वाले काउण्टर की ओर बढ़ जाएगा।···

और तब उसे झुँझलाहट-सी हुई··· डायरी हाथ में थी और उसकी निगाहें फिर दूर की ऊँची इमारतों पर अटक गई थीं, जिन पर बिजली के मुकुट जगमगा रहे थे। और उन नामों में से वह किसी को नहीं जानता था। इलाहाबाद में सबसे बड़े कपड़े वाले के बारे में इतना तो मालूम था कि पहले वह बहुत गरीब था और कन्धे पर कपड़ा रखकर फेरी लगाता था और अब उसका लड़का विदेश पढ़ने गया हुआ है···और वह खुद बहुत धार्मिक आदमी है जो अब माथे पर छापा-तिलक लगाकर मनमाना मुनाफा वसूल करता और कारपोरेशन का चुनाव लड़ने की तैयारियाँ कर रहा है।···लेकिन यहाँ कुछ भी पता नहीं चलता···किसी के बारे में कुछ भी मालूम नहीं

पड़ता···।

कनॉटप्लेस में खुले हुए लॉन हैं। तनहा पेड़ हैं और उन दूर-दूर खड़े तनहा पेड़ों के नीचे नगर-निगम की बैंच हैं, जिन पर थके हुए लोग बैठे हैं और लॉन में एकाध बच्चे दौड़ रहे हैं। बच्चों की शक्लें और शरारतें तो बहुत पहचानी-सी लगती हैं पर गोलगप्पे खाती हुई उनकी मम्मी अजनबी है, क्योंकि उसकी आँखों में मासूमियत और गरिमा से भरा प्यार नहीं है···उसके शरीर में मातृत्व का सौंदर्य और दर्प भी नहीं है—उसमें सिर्फ एक खुमार है और एक बहुत बेमानी और पिटी हुई ललकार है, जिसे न तो नकारा जा सकता है और न स्वीकार किया जा सकता है—वह ललकार सब कानों में गूँजती है और सब बहरों की तरह गुजर जाते हैं।···

लॉन पर कुछ क्षण बैठने को मन हुआ पर उसे लगा कि वहाँ भी कोई ठिकाना नहीं···अभी कल ही तो चोर की तरह दबे-पाँव घास में बहता हुआ पानी आया था और उसके कपड़े भीग गए थे।

तनहा खड़े पेड़ों और उसके नीचे सिमटते अँधेरे में अजीब-सा खालीपन है···तनहाई ही सही, पर उसमें अपनापन तो हा। वह तनहाई भी किसी की नहीं है, क्योंकि हर दस मिनट बाद पुलिस का आदमी उधर से घूमता हुआ निकल जाता है। झाड़ियों की सूखी टहनियों में आइसक्रीम के खाली कागज और चने की खाली पुड़ियाँ उलझी हुई हैं या कोई बेघर-बार का आदमी शराब की खाली बोतल फेंककर चला गया है।···

डायरी पर फिर उसकी नजर जम गई और शोर-शराबे से भरे उस सैलाब में वह बहुत अकेला-सा महसूस करने लगा और उसे लगा कि इन तीन सालों में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ जो उसका अपना हो···जिसकी कचोट अभी तक हो, खुशी या दर्द अब भी मौजूद हो। यहाँ रेगिस्तान की तरह फैली हुई तनहाई है···अनजान सागर-तटों की खामोशी और सूनापन है···पछाड़ खाती हुई लहरों का शोर है, जिससे वह खामोशी और भी गहरी होती है···

मोज़े की शक्ल में कटा हुआ आकाश है और जामा मस्जिद के

गुम्बद के ऊपर चक्कर काटती हुई चीलें हैं। औरतों का पीछा करते हुए फूल बेचने वाले हैं और यतीम बच्चों के हाथ में शाम की खबरों के अखबार हैं।···

···और तभी चन्दर को लगा कि एक अरसा हो गया, एक जमाना गुज़र गया, वह खुद अपने से नहीं मिल पाया। अपने से बातें करने का वक्त ही नहीं मिला। यह भी नहीं पूछा कि आखिर उसका अपना हाल-चाल क्या है और उसे क्या चाहिए।···हल्की-सी मुस्कराहट उसके होठों पर आयी और उसने आगे हर शुक्रवार के आगे नोट किया—खुद से मिलना है, शाम सात बजे से नौ बजे तक।··· और आज शुक्रवार ही है। यह मुलाकात आज ही होनी चाहिए। घड़ी पर नज़र जाती है—सात बजे हैं। पर मन का चोर हावी हो जाता है। क्यों न टी-हाऊस में एक प्याला चाय पी ली जाए? न जाने क्यों मन अपने से घबराता है, रह-रह कर कतराता है।

तभी उस पार से आता हुआ आनन्द दिखाई दिया। वह उससे भी नहीं मिलना चाहता। बड़ा बुरा मर्ज है आनन्द को। वह उस छूत से बचा रहना चाहता है। आनन्द दुनिया में दोस्त खोजता है ऐसा दोस्त जो जिन्दगी में गहरे न उतरें पर उसके साथ कुछ देर रह सकें और बात कर सकें। उसकी बातों में गाइडों की तरह खोखलापन है···

और उसे लगा कि वही खोखलापन खुद उसमें भी कहीं-न-कहीं है···

उसने भी उन खण्डहरों में समय बरबाद किया है जिनकी कथाएँ अधपढ़े गाइडों की ज़बान पर रहती हैं और जो हर बार, उन मरी हुई कहानियों को हर दर्शक के सामने दुहराते जाते हैं—वह दीवाने खास है···ज़रा नक्काशी देखिए!···यहाँ हीरे-जवाहरात से जड़ा सिंहासन था···यह ज़नाना हमाम है और यह वह जगह है जहाँ बादशाह अपनी रिआया को दर्शन देते थे···और वह महल सर्दियों का है···यह बरसात का···और यह हवादार महल गर्मियों का है··· और इधर आइए···सम्भल के यह वह जगह है जहाँ फाँसी दी जाती

थी !

चन्दर को लगा, जिन्दगी के पच्चीस साल वह उन गाइडों के साथ खण्डहरों में बिताकर आया है, जिनकी जीवन्त कथाओं को वह कभी नहीं जान पाया—सिर्फ दिवाने-खास उसे दिखाई गई और जनाने हमाम में घुमाकर गाइड ने उसे फाँसी वाले अँधेरे और बदबूदार कमरे में छोड़ दिया, जहाँ चमगादड़ लटके हुए बिलबिला रहे हैं और एक बहुत पुरानी ऐतिहासिक रस्सी लटक रही है, जिसका फंदा गरदन में कस जाता है आदमी झूल जाता है ।

और उसके बाद अँधे कुएँ में फेंकी गई वे लाशें समाज को दे दी जाती हैं ।

उसमें और उनमें कोई फरक नहीं है ।

और आनन्द भी उनसे अलग नहीं । चन्दर कतरा जाना चाहता था, क्योंकि आनन्द आते ही गाइडी तरीके से कहेगा—यार, तुम्हारे बाल बहुत खूबसूरत हैं ! ब्रिलक्रीम लगाते हो ? लड़कियाँ तो तबाह हो जाती होंगी !

और तभी चन्दर को सामने पाकर आनन्द रुक गया, "हलो ! यहाँ कैसे ? क्यों लड़कियों पर जुल्म ढा रहे हो ?"

सुनकर उसे हँसी आ गयी ।

"किधर से आ रहे हो ?" डायरी जेब में रखते हुए उसने पूछा।

"आज तो यूँ ही फँस गए । आओ, एक प्याला कॉफी हो जाए ।" आनन्द ने कहा और फिर एक क्षण रुककर उसने दूसरी बात सुझायी, "या और कुछ ?"

चन्दर ने उसका मतलब समझकर ना कर दी । उसने जोर दिया, "चलो, फिर आज तो हो ही जाए, क्या रखा है इस जिन्दगी में ?" कहते हुए वह झूठी हँसी हँसा और धीरे-से हाथ दबाकर पूछा, "इफ यू डोंट माइंड…कुछ पैसे हैं ?" उसके कहने में कोई हिचक नहीं थी और न उसे शरम ही आई । बड़ी सीधी-सी बात है—पैसे कम हैं ।…

"अच्छा, पार्टनर, मैं अभी इन्तजाम करके आया !" उसने

विश्वास को गराहते हुए कहा, ''यहीं रुकना'''चले मत जाना !''

और वह जाता है तो फिर नहीं आता, चन्दर यह अच्छी तरह से जानता है ।

कुछ देर बाद वह टी-हाऊस में घुस गया और मेजों के पास चक्कर काटता हुआ कोने वाले पण्डित के काउंटर से सिगरेट का पैकेट लेकर मेज़ पर जम गया ।

''हलो !'' कोई एक अनजाना चेहरा बोला, ''बहुत दिनों बाद इधर आना हुआ !'' और वह भी वहीं बैठ गया ।

दोनों के पास बात करने को कुछ भी नहीं है ।

टी-हाऊस में बेपनाह शोर है। खोखली हँसी के ठहाके हैं और दीवार पर एक घड़ी है जो हमेशा वक्त से आगे चलती है। तीन रास्ते अन्दर आने और बाहर जाने के लिए हैं और चौथा रास्ता बाथरूम में जाता है । बाथरूम के पाट्स में फिनाइल की गोलियाँ पड़ी रहती हैं और गैलरी में एक शीशा लगा हुग्रा है। हर वह आदमी जो बाथरूम जाता है, उस शीशे में अपना मुँह देखकर लौटता है ।

गैलार्ड में डिनर-डांस की तैयारी हो रही है । कुरसियों की तीन कतारें बाहर निकालकर रख दी गई हैं । उधर वोल्गा पर विदेशियों की भीड़ बढ़ रही होगी ।

और तभी एक जोड़ा भीतर आया ।

महिला सजी-बजी है और उसके जूड़े में फूल भी हैं। आदमी के चेहरे पर अजीब-सा गरूर है और वे दोनों फेमिलीवाली सीट पर आमने-सामने बैठ जाते हैं । बैठने से पहले उनमें जैसे कोई ताल्लुक नजर नहीं आ रहा था। लेकिन जब महिला बैठने के लिए मुड़ी तो साथ वाले आदमी ने उसकी कमर पर हाथ रख कर सहारा दिया ।

उनके पास भी बात करने के लिए शायद कुछ नहीं है ।

महिला अपना जूड़ा ठीक करते हुए औरों को देख रही है और साथवाला आदमी पानी के गिलास को देख रहा है। किसी के देखने में कोई मतलब नहीं है । आँखें हैं इसलिए देखना पड़ता है । अगर न होती तो सवाल ही नहीं था । एक जगह देखते-देखते आँखों में पानी

आ जाता है, इसलिए जरूरी है कि इधर-उधर भी देखा जाए।

वैरा उनकी मेज़ पर सामान रख जाता है और दोनों खाने में मशगूल हो जाते हैं। कोई बात नहीं करता। आदमी खाना खाकर दाँत कुरेदने लगता है और वह महिला रूमाल निकाल कर अन्दाज से लिपिस्टिक ठीक करती है।

अन्त में वैरा आकर पैसे लौटाता है तो आदमी कुछ टिप छोड़ता है जिसे महिला गौर से देखती है और दोनों लापरवाही से उठ खड़े होते हैं। आदमी जरा ठिठककर साथवाली महिला को आगे निकलने का इशारा करता है और उसके पीछे-पीछे चला जाता है।

चन्दर का मन और भारी हो गया। अकेलेपन का नागपाश जैसे और भी कस गया। अपने साथ बैठे हुए अनजान दोस्त की तरह उसने गहरी नजरों से देखा और सोचा कि अजनबी ही सही, पर इससे उसे पहचाना तो, इतनी पहचान भी बड़ा सहारा देती है···।

अपनी ओर चन्दर को देखते हुए पाकर साथवाला दोस्त कुछ कहने को हुआ, पर जैसे उसे कुछ याद नहीं आया। फिर अपने को सँभालकर उसने चन्दर से पूछा, "आप···आप तो शायद कॉमर्श मिनिस्ट्री में हैं। मुझे याद पड़ता है कि···" कहते हुए वह रुक गया।

चन्दर का पूरा शरीर झनझना उठा। एक घूँट में बची हुई कॉफी पीकर उसने बड़े संयत स्वर में जवाब दिया, "नहीं···मैं कॉमर्स मिनिस्ट्री में कभी नहीं था।"

उस आदमी ने आगे अटकलें भिड़ाने की कोशिश नहीं की। सीधे-सादे उस अनजान सम्बन्ध को मजबूत बनाते हुए कहा, "आल राइट, पार्टनर···फिर कभी मुलाकात होगी! और कॉफी के पैसे देकर सिगरेट सुलगाता हुआ उठ गया।

चन्दर बाहर निकल कर बस-स्टॉप की ओर बढ़ा। मद्रास होटल के पीछे बस-स्टाप पर चार-पाँच लोग खड़े थे और पुलिस वाला स्टाप की छतरी के नीचे बैठा सिगरेट पी रहा था।

चन्दर वहीं जाकर खड़ा हो गया। पेड़ के अँधेरे में वह चुपचाप

खड़ा था। नीचे पीले पत्ते पड़े थे, जो उसके पैरों से दबकर चुरमुराने लगते थे···और पीले पत्तों की वह आवाज उसे वर्षों पीछे खींच ले गई···इस आवाज में एक बहुत गहरी पहचान थी···उसे बड़ी राहत-सी मिली।

···ऐसे ही पीले पत्ते पड़े हुए थे। उस राह पर बहुत साल पहले इन्द्रा के साथ एक दिन वह चला जा रहा था···तब कुछ भी नहीं था उसके सामने···वह खण्डहरों में अपनी जिन्दगी खराब कर रहा था और तब इन्द्रा ने ही उससे कहा था, "चन्दर! तुम क्या नहीं कर सकते?"

और इन्द्रा की उन प्यार-भरी आँखों में झाँकते हुए उसने कहा था, "मेरे पास है ही क्या? समझ में नहीं आता कि जिन्दगी कहाँ ले जाएगी, इन्द्रा। इसीलिए मैं यह नहीं चाहता कि तुम अपनी जिन्दगी मेरी खातिर बिगाड़ लो। पता नहीं, मैं किनारे लगूँ, भूखा मरूँ या पागल हो जाऊँ···"

इन्द्रा की आँखों में प्यार के बादल और गहरे हो आये थे और उसने कहा था, "ऐसी बातें क्यों करते हो, चन्दर?···मैं तुम्हारे साथ हर हाल में सुखी रहूँगी।"

चन्दर ने उसे बहुत गौर से देखा था। इन्द्रा की आँखों में नमी आ गई थी। उसकी कँटीली बरौनियों से विश्वासभरी मासूमियत छलक रही थी। माथे पर आई हुई लट छूने को उसका मन हो आया था पर वह झिझककर रह गया था। इन्द्रा के कानों में पड़े हुए कुण्डल पानी में तैरती मछलियों की तरह झलक जाते थे। उसने कहा था, "आओ, उधर पेड़ के नीचे बैठेंगे।"

सरस के पेड़ के नीचे एक सीमेंट की बेंच बनी थी। जमीन पर पीली पत्तियाँ बिखरी हुई थीं। उनके कुचलने से कैसी प्यारी आवाज आ रही थी।

दोनों बेंच पर बैठ गए थे और चन्दर धीरे-से उसकी कलाई पर अँगुली से लकीरें खींचने लगा था। दोनों खामोश बैठे थे। बातें बहुत-सी थीं जो वे कह नहीं पा रहे थे। कुछ क्षणों बाद इन्द्रा ने आँखें

चुराते हुए उसे देखा था और शरमा गई थी और फिर उसी बात पर आ गई थी, जैसे उसी एक बात में सारी बातें छिपी हों, "तुम ऐसा क्यों सोचते हो, चन्दर ? मुझ पर भरोसा नहीं ?"

तब चन्दर ने कहा था, "भरोसा तो बहुत है, इन्द्रा। पर मैं खानाबदोशों की तरह जिन्दगी-भर भटकता रहूँगा···उन परेशानियों में तुम्हें खींचने की बात सोचता हूँ तो बरदाश्त नहीं कर पाता। तुम बहुत अच्छी और सुविधाओं से भरी जिन्दगी जी सकती हो। मैंने तो सिर पर कफन बाँधा है···मेरा क्या ठिकाना ?"

"तुम चाहे जो-कुछ बनो, चन्दर, अच्छे या बुरे, मेरे लिए एक-से रहोगे। कितना इन्तज़ार करती हूँ तुम्हारा, पर तुम्हें कभी वक्त ही नहीं मिलता !" फिर कुछ देर मौन रहकर उसने पूछा था, "इधर कुछ लिखा ?"

"हाँ।" धीरे-से चन्दर ने कहा था।

"दिखाओ !" इन्द्रा ने माँगा था।

और तब चन्दर ने पसीजे हुए हाथों से डायरी बढ़ा दी थी। इन्द्रा ने फौरन डायरी अपनी किताबों में रख ली थी और बोली थी, "अब यह कल मिलेगी, इस बहाने तो आओगे !"

"नहीं-नहीं ! मैं डायरी अपने साथ ले आऊँगा, मुझे वापस दो !" चन्दर ने कहा था तो इन्द्रा शैतानी से मुस्कराती रही थी और उसकी आँखों में प्यार की गहराइयाँ और बढ़ गई थीं।

हारकर चन्दर वापस चला आया था और दूसरे दिन अपनी डायरी लेने पहुँचा था तो इन्द्रा ने कहा था, "इसमें मैंने भी लिखा है, पढ़कर फाड़ देना जरूर से ?"

"मैं नहीं फाड़ूँगा !"

"तो खुट्टी हो जाएगी !" इन्द्रा ने बच्चों की तरह बड़ी मासूमियत से कहा था और उस वक्त उसके मुँह से वह बेहद बचपने की बात भी बड़ी प्यारी लगी।

और एक दिन···

एक दिन···इन्द्रा घर आई थी। इधर-उधर से घूम-घाम कर वह

चन्दर के कमरे में पहुँच गई थी और तब चन्दर ने पहली बार उसे बिलकुल अपने पास महसूस किया था और उसके गोरे माथे पर रंग से बिन्दी बना दी थी और कई क्षणों तक मुग्ध-सा देखता रह गया था···और अनजाने ही उसने अपने होंठ इन्द्रा के माथे पर रख दिए थे। इन्द्रा की पलकें झपक गईं थीं और रोम-रोम से एक सुगन्ध फूट उठी थी। उसकी अँगुलियाँ चन्दर की बाँहों पर थरथराने लगी थीं और माथे पर आया पसीना उसके होंठों ने सोख लिया था। रेशमी रोम पसीने से चिपक गए थे और उन उन्माद के क्षणों में दोनों ने ही प्रतिज्ञा की थी—वह प्रतिज्ञा जिसमें शब्द नहीं थे जो होठों तक भी नहीं आई थी !

तब से उसे वे शब्द हमेशा याद रहते हैं—तुम क्या नहीं कर सकते ?···

एक बस आई और ठिठक कर चली गई। तब चन्दर को अहसास हुआ कि वह बस-स्टाप पर खड़ा है।

···वह गहरी पहचान···कहीं कोई तो है···और वह बहुत दूर भी तो नहीं। इन्द्रा भी यहीं दिल्ली में···

दो महीने पहले ही तो वह मिला था। तब भी इन्द्रा की आँखों में चार बरस पहले की पहचान थी और उसने अपने पति से किसी बात पर कहा था, "अरे चन्दर की आदतें मैं खूब जानती हूँ।"

और इन्द्रा के पति ने बड़े खुले दिल से कहा था, "तो फिर, भई, इनकी खातिर-वातिर करो।"

और इन्द्रा ने मुस्कराते हुए, चार बरस पहले की ही तरह चिढ़ाने के अन्दाज में बयान किया था।

"चन्दर को दूध से चिढ़ है और कॉफी इन्हें धुआँ पीने की तरह लगती है···चाय में अगर दो चम्मच चीनी डाल दी गई तो इनका गला खराब हो जाएगा···" कहकर वह खिलखिलाकर हँस दी थी और इस बात से उसने पिछली बातों की याद ताजी कर दी थी··· सचमुच चन्दर दो चम्मच चीनी नहीं पी सकता।···

बस आने का नाम नहीं ले रही।

खड़े-खड़े चन्दर को लगा कि इस अनजानी और अपरिचित नगरी में एक इन्द्रा है जो उसे सालों के बाद भी पहचानती है···अब तक जानती है। उसका मन अपने-आप इन्द्रा से मिलने के लिए छटपटाने लगा। यह अजनबीयत किसी तरह टूटे तो···कुछ क्षणों के लिए भी!

तभी तक फटफट वाला आवाज लगाता हुआ आ गया—गुरुद्वारा रोड।···करौलबाग···गुरुद्वारा रोड।

चन्दर एक कदम आगे बढ़ा और सरदार उसे देखते ही जैसे एक-दम पहचान गया, "आइए, बाबूजी, करौलबाग, गुरुद्वारा रोड!"

उसकी आँखों में पहचान की झलक देख चन्दर का मन हलका हो गया। आखिर एक ने तो पहचाना! चन्दर सरदार को पहचानता था, बहुत बार वह इसी सरदार के फटफट में बैठ कर कनॉट प्लेस आया था।

आँखों में पहचान देखते ही चन्दर लपककर फटफट पर बैठ गया। तीन सवारियाँ और आ गईं और दस मिनट बाद ही गुरुद्वारा रोड के चौराहे पर फटफट रुक गया। चन्दर ने एक चवन्नी निकालकर सरदार की हथेली पर रख दी और एक पहचान-भरी नजर से उसे देख आगे बढ़ गया।

पीछे से आवाज आई, "ए बाबूजी! कितना पैसा दिया है?" चन्दर ने मुड़कर देखा, तो सरदार उसकी तरफ आता हुआ कह रहा था, "दो आने और दीजिए साहब!"

"हमेशा चार ही आने तो लगते हैं, सरदारजी," चन्दर पहचान जताता हुआ बोला, पर सरदारजी की आँखों में पहचान की परछाईं तक नहीं थी। वह फिर बोला, "सरदारजी, आपके फटफट पर ही बीसों बार चार आने देकर आया हूँ!"

"किसे होर ने लए होणगे चार आने। असी ते छै आने तों घट नहीं लेंदे, बादशाहो!" सरदार बोला और उसकी हथेली फैली हुई थी।

बात दो आने की नहीं थी। चन्दर ने बाकी पैसे उसकी हथेली

पर रख दिए और इन्द्रा के घर की तरफ मुड़ गया।

और इन्द्रा उसे वैसे ही मिली। वह अपने पति का इन्तज़ार कर रही थी। बड़ी अच्छी तरह उसने चन्दर को बैठाया और बोली, "इधर कैसे भूल पड़े आज?" उसकी आँखों में वही पहचान की परछाईं तैर रही थीं। कुछ क्षणों बाद इन्द्रा ने कहा था, "अब तो नौ बज गए। आठ ही बजे फैक्ट्री बन्द करके लौट आते हैं, पता नहीं आज क्यों देर हो गई।...अच्छा, चाय तो पिओगे?"

"चाय तो इन्कार नहीं की जा सकती।" चन्दर ने बड़े उत्साह से कहा था और कुर्सी पर आराम से टाँगें फैलाकर बैठ गया था। उसकी सारी थकान जैसे उतर गई थी और मन का अकेलापन कहीं डूब गया था।

नौकरानी आकर चाय रख गई। इन्द्रा प्याले सीधे करके चाय बनाने लगी। वह उसकी बाँहों, चेहरे और हाथों को देखता रहा... सब कुछ वही था, वैसा ही था...चिर परिचित...

तभी इन्द्रा ने पूछा, "चीनी कितनी दूँ?"

और झटके से जैसे सब-कुछ बिखर गया। चन्दर का गला सूखने-सा लगा और शरीर फिर थकान से भारी हो गया। माथे पर पसीना आ गया। फिर भी उसने पहचान का रिश्ता जोड़ने की एक कोशिश की और बोला, "दो, चम्मच!" और उसे लगा कि अभी इन्द्रा को सब-कुछ याद आ जाएगा और वह पूछेगी कि क्या दो चम्मच चीनी से अब गला खराब नहीं होगा?

पर इन्द्रा ने दो चम्मच चीनी डाल दी और प्याला उसकी ओर बढ़ा दिया। जहर के घूँटों की तरह वह चाय पीता रहा। इन्द्रा इधर-उधर की बातें करती रही, जिनसे मेहमानबाजी की बू आ रही थी और चन्दर का मन कर रहा था कि वह चीखता हुआ यहाँ से भाग जाए और किसी दीवार से अपना सिर टकरा दे।

जैसे-तैसे चाय पी और पसीना पोंछता हुआ बाहर निकल आया। इन्द्रा ने क्या-क्या बातें की थीं उसे बिलकुल याद नहीं रहीं।

सड़क पर निकलकर उसने एक गहरी साँस ली और कुछ क्षणों के

लिए खड़ा रह गया। उसका गला बुरी तरह सूख रहा था और मुँह का स्वाद बेहद बिगड़ा हुआ था।

चौराहे पर कुछ टैक्सी-ड्राइवर नशे में गालियाँ बक रहे थे और एक कुत्ता दूर सड़क पर भागा चला जा रहा था। मछलियाँ तलने की गन्ध यहाँ तक आ रही थी और पानवाले की दुकान पर कुछ जवान लोग कोकाकोला की बोतलें मुँह में लगाए खड़े थे। स्कूटरों में कुछ लोग भागे जा रहे थे। और शहर से दूर जानेवाले लोग बस-स्टाप पर खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे।

कारें, टैक्सियाँ, बसें और स्कूटर आ-जा रहे थे।

चौराहे पर लगी बत्तियों की आँखें अब भी लाल-पीली हो रही थीं।

चन्दर थका-सा अपने घर की ओर लौट रहा था। अँगुलियों पर जूता काट रहा था और मोजे की बदबू और भी तेज हो गई थी।

आखिर वह थका-हारा घर पहुँचा और एक मेहमान की तरह कुर्सी पर बैठ गया। यह कोई नई बात नहीं थी। निर्मला उसे देखकर मुस्कराई और धीरे-से बाँहों पर हाथ रखकर पूछा, "बहुत थक गए?"

"हाँ!" चन्दर ने कहा और उसे बहुत प्यार से देखा। उसका मन भीतर से उमड़ आया था। उस किराए के मकान में भी उस क्षण उसे राहत मिली और उसे लगा कि वह घर उसीका है।

निर्मला खाना लगाते हुए बोली, "हाथ-मुँह धो लो।"

"अभी खाने का मन नहीं है," चन्दर ने कहा।

बहुत प्यार से देखते हुए निर्मला ने पूछा, "क्यों, क्या बात है?... सुबह भी तो खा के नहीं गए थे। दोपहर में कुछ खाया था?"

"हाँ," उसने कहा और निर्मला को देखने लगा।

निर्मला कुछ अचकचाई और थकी-सी उसके पास बैठ गई।

चन्दर कुछ देर खोई-खोई नजरों से कमरे की हर चीज देखता रहा। बीच-बीच में बड़ी गहरी नजरों से निर्मला को ताक लेता। निर्मला कोई किताब खोलकर पढ़ने लगी थी।

पीछे से पड़ती हुई रोशनी में निर्मला के बाल रेशम की तरह चमक रहे थे। उसकी बरौनियाँ मुलायम काँटों की तरह लग रही थीं और कनपटी के पास रेशमी बालों के सिरे अपने-आप घूम गए थे। पलकों के नीचे पड़ती हुई परछाईं बहुत पहचानी-सी लग रही थी। उसने कड़ा आधी कलाई तक सरका लिया था।

चन्दर की निगाहें उसमें पुरानी पहचानें खोज रही थीं—उसके नाखून···अँगुलियाँ···कानों की गुदारी लवें···

फिर उठकर उसने पर्दे खींच दिए और आराम से लेट गया। उसे लगा कि वह अकेला नहीं है, अजनबी और तनहा नहीं है···सामने वाला गुलदस्ता उसका अपना है···पड़े हुए कपड़े उसके अपने हैं, उनकी गन्ध वह पहचानता है। इन सभी चीजों में एक गहरी पहचान है। घोर अंधेरी रात में भी वह उन्हें टटोलकर पहचान सकता है। किसी भी दरवाजे से बिना टकराए हुए निकल सकता है।···

थाने के घड़ियाल ने दो के घण्टे बजाए, तो चन्दर की नींद उचट गई। नींद के खुमार में ही वह चौंक-सा पड़ा, जैसे कमरे की खामोशी और सूनेपन से वह डर गया हो। अन्धेरे में ही उसने निर्मला को टटोला। तकिए पर बिखरे उसके बालों पर उसका हाथ पड़ा और उन बालों की चिकनाई उसने महसूस की और सिर झुकाकर वह उन्हें सूँघने लगा।

निर्मला अब भी करवट लिए पड़ी थी। वह धीरे-से नींद में कुन-मुनाई। चन्दर का दिल अचानक धक्-से रह गया—कहीं निर्मला जाग न जाए, अनजाने ही इस स्पर्श से अजनबियों की तरह चौंक न जाए।

निर्मला नींद में ही कुछ बड़बड़ाई और फिर जैसे डरकर रोने लगी। चन्दर चौंक-सा गया—क्या वह उसके स्पर्श को नहीं पहचानती ?

उसने निर्मला को झकझोरकर उठाया, "निर्मला !···निर्मला !" वह बदहवासी में पुकारता गया।

निर्मला चौंककर उठी और आँखें मलते हुए प्रकृतिस्थ होने की

कोशिश करने लगी।

बिजली जलाकर, निर्मला को दोनों कन्धों से पकड़कर उसने अपना मुँह उसके सामने करके डरी हुई आवाज में पूछा, "मुझे पहचानती हो ? मुझे पहचानती हो न निर्मला ?"

निर्मला आँखें फाड़कर देखने लगी और आश्चर्य-भरे स्वर में बोली, "क्या हुआ ?"

वह निर्मला को ताकता रहा। उसकी आँखें उसके चेहरे पर कुछ खोजती रहीं, उसके मुँह से कोई बात न निकली।

८

पानी और पुल

15 1930

डॉ० महीपसिंह (जन्म १५ अगस्त १९३० ई०) हिन्दी की सचेतन कहानी के प्रतिनिधि हैं और 'सचेतना' पत्रिका का संपादन कर रहे हैं। 'सुबह के फूल' तथा 'उजाले के उल्लू' उनके बहुचर्चित कहानी-संग्रह हैं। 'घिराव', 'मेरी प्रिय कहानियाँ', 'कुछ और कितना' तथा 'एक लड़की शोभा' अन्य प्रकाशित संग्रह हैं। कहानीकार के अनुसार "सचेतनता एक दृष्टि है। वह दृष्टि जिसमें जीवन जिया भी जाता है और जाना भी जाता है।···मनुष्य की प्रकृति जीवन से भागने की नहीं रही है। जीवन की ओर भागना ही उसकी नियति है। और जब जीना ही उसकी नियति है तो कैसे जिए? दृष्टि की सचेतनता शायद इसका उत्तर है।"

जिजीविषा (आस्था) पुल की तरह दृढ़ है, 'पत्थर और लोहे के बने' जेहलम के पुल के समान वह बहुत मजबूत है। पानी (जीवन) बहता रहता है, कभी-कभी बाढ़ आ जाती है, उसमें बहुत-कुछ अच्छा-बुरा बहकर आ जाता है, परन्तु वह टिककर पुल पर अधिकार तो नहीं कर लेता। घटनाओं, परिस्थितियों, परिवर्तनों की बाढ़ आस्था रूपी पुल के ऊपर-नीचे से इसी प्रकार निकल जाती है। और फिर "स्वच्छ और निर्मल पानी" (जीवन) "उस पत्थर और लोहे के बने हुए पुल के नीचे" बहता है। महीपसिंह की इस कहानी में उनकी सचेतन दृष्टि भी साफ झलक रही है।

'पानी और पुल' कहानी में कहानीकार ने इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना (देश के विभाजन) को आधार बनाया है। वैयक्तिक सम्बन्ध से लेखक पाठक की संवेदना को भी जगा सका है। यहाँ मनुष्य अपने सामान्य रूप में मनुष्य है, वह हिन्दू-मुसलमान नहीं है, इसलिए उसमें साहचर्य-जन्य स्नेह तो है, अनुभव-जन्य कटुता नहीं। कहानीकार का सन्देश भी इसी आस्था को जगाना है।

पानी और पुल

गाड़ी ने लाहौर का स्टेशन छोड़ा तो एकबारगी मेरा मन काँप उठा। अब हम लोग उस ओर जा रहे थे, जहाँ चौदह साल पहले ऐसी आग लगी थी, जिसमें लाखों जल गए थे और लाखों पर जलने के निशान आज तक बने हुए हैं। मुझे लगा हमारी गाड़ी किसी गहरी, लम्बी, अन्धकारमय गुफा में घुसी जा रही है; और हम अपना सब कुछ इस अन्धकार को सौंपे दे रहे हैं।

हम सब लगभग तीन सौ यात्री थे। स्त्रियों और बच्चों की भी संख्या हममें काफी थी। लाहौर में हमने सभी गुरुद्वारों के दर्शन किए। वहाँ हमें जैसा स्वागत मिला उससे आगे अब पंजेसाहब की यात्रा में किसी प्रकार का अनिष्ट घट सकता है, ऐसी सम्भावना तो नहीं थी; परन्तु मनुष्य के अन्दर का पशु कब जाग उठे, कौन जानता है?

यही सब सोचते-सोचते मैंने माँ की ओर देखा। हथेली पर मुँह टिकाए, कोहनी को खिड़की का सहारा दिए वे निरन्तर बाहर की ओर देख रही थीं। खेत कट चुके थे। दूर-दूर तक सपाट धरती दिखाई दे रही थी। मुझे लगा माँ की आँखों में से उतरकर यह सपाटता उनके मन में पूरी तरह छा गई है। फिर मैंने अपने डिब्बे के दूसरे यात्रियों की तरफ देखा। उन पर भी गहरी उदासी छाई हुई थी। समझ में नहीं आ रहा था कि एकाएक ऐसी उदासी सब पर क्यों छा गई है।

''तुम्हें तो यह रास्ता अच्छी तरह याद होगा?'' मैंने माँ का ध्यान तोड़ते हुए पूछा, ''सैकड़ों बार आना-जाना हुआ होगा तुम्हारा?''

माँ मेरी ओर देखकर मुस्कराईं। वह मुस्कुराहट सब कुछ खोकर

पाई हुई मुस्कुराहट थी। बोलीं, "मुझे तो इस रास्ते का एक-एक स्टेशन तक याद है। पर आज यह इलाका कितना बेगाना-बेगाना-सा लग रहा है। आज चौदह साल बाद इधर से जा रही हूँ। पहले भी ऐसे ही जाती थी। लाहौर पार करते ही अजीब-सी उमंग नस-नस में दौड़ जाती थी। सराई (हमारा गाँव) जैसे-जैसे निकट आता जाता, वहाँ की एक-एक शक्ल मेरे सामने से गुजर जाती, स्टेशन पर कितने लोग आए होते···"

माँ की आँखों में चौदह साल पहले की याद तरल हो आई थी। पिताजी ने अपना रोजगार उत्तर प्रदेश में ही जमा लिया था। हम सब भाई-बहनों का जन्म पंजाब के बाहर ही हुआ था। मुझे याद है, पिताजी तो शायद साल में एकाध बार ही पंजाब आते थे, पर माँ के दो-तीन चक्कर जरूर लग जाते थे। हममें जो छोटा होता वह माँ के साथ जाता, और जब से मुझे याद है, मेरी छोटी बहन ही उनके साथ जाया करती थी।

उन दिनों, जब पंजाब का विभाजन घोषित हो चुका था—पंजाब की पाँचों नदियों का जल उन्माद की तीखी शराब बन चुका था, माँ ने फिर पंजाब जाने का फैसला किया था। सभी ने ऐसे विरोध किया जैसे वे जलती आग में कूदने जा रही हों। और, वह सचमुच आग में कूदने जैसा ही तो था! परन्तु पिताजी सहित हम सब जानते थे कि माँ को अपने निश्चय से डिगाना कोई आसान नहीं। उन्होंने सबकी बातों को हँसकर टाल दिया। बीस-बाईस दिनों में वे वापस आ गईं। गाँव के घर का बहुत-सा सामान वे बुक करा आई थीं। साथ में वे अपना पुराना चरखा और दही मथने की बड़ी मथानी ले आई थीं।

फिर सारे पंजाब में आग लग गई। घर-के-घर, गाँव-के-गाँव और शहर-के-शहर उस आग में जलने लगे। आग रुकी तो लगा, पेशावर तक सपाट फैली हुई जमीन अमृतसर और लाहौर के बीच से फट गई है, और उस पार का फटा हुआ हिस्सा बीच में गहरी खाई छोड़कर न जाने कितना उधर खिसक गया है। हम सब भूल-से गए

कि उस गहरी खाई के उस पार हमारा अपना गाँव था, पक्की सड़क के किनारे पीछे की ओर एक नहर थी और पास ही जेहलम नदी—अल्हड़ लड़की की तरह उछलती-कूदती बहती थी !

आज मैं माँ के साथ उस खाई पर से गुजरकर उस प्रदेश की ओर जा रहा था जो कल कितना अपना था, आज कितना पराया है ।

मैं एक पुस्तक के पन्ने पलट रहा था । माँ ने पूछा, "यह गाड़ी सराई स्टेशन पर रुकेगी ?"

मैंने कुछ सोचा फिर कहा, "हाँ, शायद रुके, पर पहुँचेगी रात के एक-दो बजे । हम लोग गहरी नींद में सो रहे होंगे । स्टेशन कब आकर निकल जाएगा, पता भी नहीं लगेगा । और अब अपना रखा ही क्या है वहाँ ?"

माँ के चेहरे पर खिसियाहट-सी दौड़ गई । बोलीं, "तुम्हारे लिए पहले भी वहाँ क्या रखा था ?"

मेरी बात से माँ को चोट पहुँची थी । बिना और कुछ बोले मैं सिर झुकाकर अपनी पुस्तक के पन्नों में उलझ गया ।

धीरे-धीरे अन्धेरा छाने लगा । माँ ने पोटली खोलकर खाने के लिए कुछ निकाला । मेरे एक दूर के मामाजी हमारे साथ थे । तीनों ने मिलकर कुछ खाया और सोने की तैयारी करने लगे । मामाजी तो दस मिनट में ही खर्राटे भरने लगे । मैं भी एक ओर लुढ़क गया । माँ वैसी ही बैठी रहीं ।

कुछ देर बाद एकाएक मेरी आँख खुली तो देखा माँ वैसे ही बाहर फैले हुए अन्धेरे की ओर निष्पलक देखती हुई बैठी हैं । घड़ी देखी, साढ़े दस बज गए थे । मैंने कहा, "माँ, तुम भी लेट जाओ न !"

"अच्छा !" उनके मुँह से निकला और वे अधलेटी-सी हो गईं । मैंने उस अधनींदी अवस्था में कोई स्वप्न देखा हो, ऐसा तो मुझे याद नहीं आता, पर उस नींद में भी कुछ घबराहट अनुभव हुई । कोई लाल-सी तरल चीज मुझे अपने चारों ओर फिरती अनुभव होती थी । मुझे लग रहा था उस लाल-सी चीज पर मेरे पैर फच-फच पड़ रहे

हैं। फिर एकाएक मैं हड़बड़ा उठा। माँ मुझे झकझोर रही थीं। अजीब-सी घबराहट और उत्तेजना से उनके हाथ काँप रहे थे।

"क्या है ?"

मैंने बाहर झाँककर देखा, हमारी गाड़ी छोटे-से स्टेशन पर खड़ी थी। प्लेटफॉर्म पर लैम्प-पोस्टों की हलकी-हलकी रोशनी थी और अजीब-सा कोलाहल वहाँ छाया हुआ था। एकबारगी मेरा रोयाँ-रोयाँ काँप उठा। चौदह साल पहले की अनेक सुनी-सुनाई घटनाएँ बिजली बनकर कौंध गईं—जब दंगाइयों ने कितनी गाड़ियों को जहाँ-तहाँ रोककर लोगों को गाजर-मूली की तरह काट डाला था। मामाजी भी जागकर मेरा कन्धा हिला रहे थे।

"अरे क्या बात है ?"

तभी मेरे कानों में आवाज़ पड़ी। उस भीड़ में से कोई चिल्ला रहा था, "अरे इस गाड़ी में कोई सराई का है ?"

"यह कौन-सा स्टेशन है ?" मैंने माँ से पूछा।

माँ ने कहा, "सराई···अपने गाँव का स्टेशन।"

बाहर से फिर आवा आईज़, "अरे इस गाड़ी में कोई सराई का है ?"

मैंने माँ की ओर देखा। उनके चेहरे पर पूर्ण आश्वस्तता थी।

"पूछो इनसे, क्या बात है ?"

मैंने खिड़की से गरदन निकाली। बहुत-से लोग घूमते हुए पुकार रहे थे, "अरे कोई सराई का है ?"

पास से जाते हुए एक आदमी को बुलाकर मैंने पूछा, "क्या बात है, जी ?"

"आप में कोई इस गाँव का है ?"

"हाँ, हम हैं इस गाँव के···"माँ आगे आकर बोलीं।

"तुम सराई की हो ?" उस आदमी ने जोर देकर पूछा।

"हाँ जी ?"

माँ के इतना कहते ही स्टेशन पर चारों ओर शोर मच गया। इधर-उधर घूमते हुए बहुत-से आदमी हमारे डिब्बे के सामने जमा हो

गए । फिर कई आवाज़ें एक साथ आईं ।

"तुम सराई की हो ?"

"हाँ जी, हम सराई के ही हैं···" माँ ने जोर देकर कहा, "इसी गाँव के ।"

उपस्थित जन-समुदाय में एक कोलाहल-सा हुआ । किसी की आवाज़ आई, "तुम किसके घर से हो ?"

माँ ने मेरी ओर देखा । मैंने कहा, "मेरे पिताजी का नाम सरदार मूलासिंह है । ये मेरी माँ हैं ।"

"तुम मूलासिंह के बेटे हो ?" कई लोग एक साथ चिल्लाए, "तुम मूलासिंह की बीवी हो···रखेलसिंह की भाभी ?"

"कैसे हैं सब ?" कहते-कहते कितने ही हाथ हमारी ओर बढ़ने लगे । लोग हमारे सम्बन्धियों की कुशल-क्षेम पूछते हुए अपने हाथ की पोटलियाँ मुझे और माँ को थमाते जा रहे थे । उनमें बादाम, अखरोट, किशमिश आदि सूखे मेवे बँधे हुए लग रहे थे । मैं और माँ गुम-सुम-से उन्हें ले-लेकर अपनी सीट पर रखते जा रहे थे । देखते-देखते हमारी बर्थ कपड़ों की छोटी-छोटी पोटलियों से भर गई ।

मैं हक्का-बक्का-सा यह सब देख रहा था । माँ अपने सिर का कपड़ा बार-बार सँभालती हुई हाथ जोड़ रही थीं । खुशी से उनके होंठ फड़फड़ा रहे थे । मुँह से निकल कुछ भी न रहा था और लगता था आँखें अभी चू पड़ेंगी ।

वहीं पर खड़े गार्ड ने हरी लालटेन ऊपर उठाई और कोट की जेब से सीटी निकाली । मैंने देखा तीन-चार आदमियों ने उसे पकड़-सा लिया ।

"ओए बाबू, दो-चार मिंट और खड़ी रहने दे न गाड़ी को ! देखता नहीं ये बीबी इसी गाँव की हैं···।" और एक ने उसका लालटेन वाला हाथ पकड़कर नीचे कर दिया ।

"भरजाई, सरदारजी कैसे हैं ? उन्हें क्यों नहीं लाई, पंजेसाब दरशन कराने ?" एक बूढ़ा-सा मुसलमान पूछ रहा था ।

माँ ने दोनों हाथों से सिर का कपड़ा और आगे कर लिया, उनके

मुँह से धीरे-से निकला, "सरदारजी नहीं रहे···"

"क्या···? मूलासिंह गुजर गए ? क्या हुआ था उन्हें ?"

माँ चुप रहीं, मैंने जवाब दिया, "उनके पेट में रसौली हो गई थी। एक दिन अचानक फूट गई और दूसरे दिन पूरे हो गए।"

"ओह, बड़े नेक बंदे थे, खुदा उन्हें अपनी दरगाह में जगह दे।" उनमें से एक ने अफसोस प्रकट करते हुए कहा। कुछ क्षण के लिए सबमें खामोशी छा गई।

"भरजाई, तेरे बच्चे कैसे हैं ?"

"वाहेगुरु की किरपा है, सब अच्छे हैं।" माँ ने धीरे से कहा।

"अल्लाह उनकी उमर दराज करे।" कई आवाजें एक साथ आईं।

"भरजाई, तुम अपने बच्चों को लेकर यहाँ आ जाओ," किसी एक ने कहा, और कितनों ने दुहराया, "भरजाई, तुम लोग वापस आ जाओ···वापस आ जाओ।"

प्लेटफॉर्म पर खड़ी कितनी आवाजें कह रही थीं—

"वापस आ जाओ।"

"वापस आ जाओ।"

मैंने सुना, मेरे पीछे खड़े मामाजी कुढ़ते हुए कह रहे थे, "हूँ···! बदमाश कहीं के ! पहले तो मार-मार के यहाँ से निकाल दिया, अब कहते हैं वापस आ जाओ···"

पर प्लेटफॉर्म पर खड़े लोगों ने उनकी बात नहीं सुनी थी। वे कहे जा रहे थे—

"भरजाई, तुम अपने बच्चों को लेकर वापस आ जाओ। बोलो, भरजाई कब आओगी ? अपना गाँव तो तुम्हें याद आता है ? भरजाई वापस आ जाओ···।"

माँ के मुँह से कुछ नहीं निकल रहा था। वे सिर का कपड़ा सँभालते हुए हाथ जोड़े जा रही थीं।

दूर खड़ा गार्ड हरी लालटेन दिखाता हुआ सीटी बजा रहा था।

इन्जन ने सीटी दी। गाड़ी फक्-फक् करती हुई चल दी। भीड़-

की-भीड़ हमारे डिब्बे के साथ चल दी ।

"अच्छा भरजाई, सलाम···अच्छा बेटे, सलाम···रवेलसिंह को हमारा सलाम देना···सबको हमारा सलाम देना ।"

माँ के हाथ जुड़े हुए थे और मुँह से गद्‌गद् स्वर में धीरे-धीरे कुछ निकल रहा था । धीरे-धीरे गाड़ी कुछ तेज हो गई । हम दोनों खिड़की से सिर निकाले हाथ जोड़े रहे । भीड़ के लोग वहीं खड़े हाथ ऊपर उठाए चिल्लाते रहे, "···।"

गाड़ी स्टेशन के बाहर निकल आई तो मैंने बर्थ से पोटलियाँ हटाकर एक ओर कीं और माँ से कुछ कहने के लिए उनकी ओर देखा ।

माँ की आँखों से आँसुओं की अविरल धार बह रही थी । वे बार-बार दुपट्टे से आँखें पोंछे जा रही थीं, पर टूटे हुए बाँध का पानी बहता जा रहा था ।

हमारी गाड़ी जेहलम के पुल पर आ गई थी। रात्रि की उस नीरवता में खडर···खडर···की तेज आवाज आ रही थी। मैं खिड़की से झाँककर जेहलम का पुल देखने लगा । मैंने सुना था जेहलम का पुल बहुत मजबूत है । पत्थर और लोहे के बने उस मजबूत पुल को अन्धेरे में देख रहा था। मेरी दृष्टि और नीचे की ओर भी जा रही थी, जहाँ घुप अन्धेरा था, पर मैं जानता था वहाँ पानी है—जेहलम नदी का कल-कल करता हुआ, स्वच्छ और निर्मल पानी, जो उस पत्थर और लोहे के बने हुए पुल के नीचे बह रहा था ।

९

ऊधो का लेना न माधो का देना

मनहर चौहान का नाम सचेतन कहानी के साथ जुड़ा हुआ है। नई कहानी ने परिवेश का बिखरा हुआ चित्र प्रस्तुत किया था। उस पर यथार्थ का बिखरापन छा गया था। फलतः कुछ कहानीकार इससे सहमत न हो सके। सचेतन कहानी ऐसा ही एक आन्दोलन है जो यह मानता है कि कहानीकार के ऊपर एक विशेष उत्तरदायित्व है जो व्यक्ति के उलझे हुए दृष्टिकोण से निबाहा नहीं जा सकता। कहानीकार जिस जीवन को जी रहा है उसके विषय में उसे जानना भी चाहिए, सचेत होकर बह जाना उसका पलायन मात्र है। महीपसिंह, मनहर चौहान, बलराज पंडित, जगदीश चतुर्वेदी आदि इस वर्ग के कहानीकार हैं। "सचेतना एक दृष्टि है। वह दृष्टि जिसमें जीवन जिया भी जाता है और जाना भी जाता है।...मनुष्य की प्रकृति जीवन से भागने की नहीं रही है। जीवन की ओर भागना ही उसकी नियति है।"

नई दिल्ली कनॉट प्लेस में रात्रि के ग्यारह बजे का यह चित्र है जिसमें एक सामान्य दुर्घटना के सम्बन्ध में निठल्ले आदमियों की प्रतिक्रिया चित्रित की गई है। दो युवक एम० ए० पास करके नौकरी करने लगे, फिर बेकार हो गए। वे अपना सारा समय व्यर्थ की बातचीत और बहस में बिताते हैं और निठल्लेपन के जीवन में रस लेने लगते हैं। उनकी बातें, उनका झगड़ा, उनकी बहस, उनकी चिन्ता सब निरुद्देश्य है। बिना बात के ही वे बात करते हैं, व्यर्थ बैठे रहते

हैं बौद्धिक व्यायाम करते हैं। उनका लगाव किसी भी बात से नहीं है, न समाज से न शास्त्र से। ऐसा जीवन उनको 'अनिश्चित काल के लिए बेकार रहने' से मिला। लेखक ने इन यवकों को समाज के प्रतिनिधि मानकर चित्रित नहीं किया, ये अपवाद हैं, इनकी दिशा बदलनी चाहिए। एम० ए० तक पढ़कर भी दीर्घ काल तक बेकार रहना, निरुददेश्य जीवन बिताना समाज का सामान्य नियम नहीं है। मनहर चौहान ने इस दृश्य को कलाकार के उत्तरदायित्व के साथ चित्रित किया है, यही उनकी विशेषता है। कमलेश्वर और मनहर चौहान की इन कहानियों की आपस में तुलना भी हो सकती है।

ऊधो का लेना न माधो का देना

"आज शाम कॉफी-हाउस जाते समय मैंने तोतों का एक झुण्ड देखा।" उसने बताया।

उसका दोस्त, जो उसके जैसे ही छरहरे शरीर का लेकिन उससे ज़रा साँवला युवक था, चुप रहा। वह उस तिलचिट्टे की ओर देख रहा था, जो उस सस्ते होटल के वाश-वेसिन के पास अपने लम्बे-लम्बे पैरों और लचीली, लाल मूँछों के साथ कभी इधर सरक रहा था, कभी उधर।

तोतों के बारे में सिर्फ यही एक वाक्य कहा गया। उसके बाद यहाँ तक कि वाक्य कहा जाना ही उन दोनों के ख्याल से उतर गया। पिछले कई महीनों से ऐसा हो रहा था। वे तीन-तीन, चार-चार दिनों में एकाध बार दाढ़ी बनवाते और रोज शाम को 'टी-हाउस' के सामने की रेलिंग से टिककर खड़े रहते। अगर उनमें कोई किसी कारणवश न आया होता तो दूसरे को बहुत बुरा लगता। यह बात अगले दिन मुलाकात होने पर वह कह भी देता। तब 'अपराधी' युवक इतनी गम्भीरता से अपने न आ पाने की सफाई देता मानो यदि सफाई को विश्वसनीय न माना गया तो जाने क्या हो जाएगा!

उनकी बातचीत किसी भी विषय से शुरू हो सकती थी। किसी भी बात पर बहस होते-होते उनमें झगड़ा तक हो सकता था। उस हालत में अगले दिन जब रेलिंग पर मुलाकात होती तो दोनों के मुँह थोड़ी देर तक फूले रहते, फिर दोनों ही बिना किसी सलाह-मशविरा के समझ जाते कि आज उन्हें कहाँ जाकर आराम से बैठना चाहिए या चाय अथवा कॉफी पीनी चाहिए। जेब में पैसे न होते तो वे पार्क की घास पर लेट जाते या अगर थोड़े-बहुत होते, तो 'रीगल' के पिछवाड़े

के सस्ते होटल में जाकर कम चीनी की चाय पीते, बैरा को डाँटते और ठहाके लगाते हुए बंगालियों की दहेज समस्या पर विचार करते या मुसकराते हुए तय करते कि प्रेसीडेण्ट निक्सन अपनी भूलों को स्वीकार क्यों नहीं कर पाते। सहसा वे गम्भीर हो जाते और कहते कि शादी करने में जितनी बरबादी है, नौकरी करने में भी उतनी ही है।

शादी दोनों में से किसीने नहीं की थी, अतः उस बारे में ऐसी बात उतने विश्वास के साथ वे कैसे कहते थे, समझना मुश्किल था, लेकिन नौकरी का अनुभव दोनों ने लिया था। न केवल नौकरी करने का अनुभव, अपितु उसे छोड़कर अनिश्चित काल के लिए वेकार रहने का अनुभव भी। वेकारी की अनिश्चितता अब उन्हें नशीली लग रही थी···दोनों सोचने लगे थे कि जिन्दगी का वह समय कितना अच्छा होता है, जब समय काटे न कट रहा हो और आप कॉफी-हाउस जाकर एक प्याला कॉफी का आर्डर दें, फिर मेज पर सिर टिकाकर सो जाएँ और कॉफी आकर, शाम तक पड़ी रहकर ठण्डी होती रहे···और रौब इतना हो कि बैरा आपको जगाने का साहस न कर पाए। अगर करे भी तो सफलता न पा सके···

"जानते हो, ह्वेल मछली का बच्चा पैदा होते समय हाथी जितना होता है?" उनमें से एक ने कहा और ठण्डी हो चुकी चाय की बड़े शौक से चुस्की ली।

"अच्छा?" दूसरे ने आश्चर्य व्यक्त किया—"लेकिन मैंने तो सुना है कि ह्वेल मछली मछली ही नहीं है।"

"हाँ! वह स्तनपोषी जानवर है।" पहले ने उत्तर दिया और सिगरेट सुलगाई। उसके बाद एक और सिगरेट जेब से सप्रयास निकालकर दूसरे को दी। दूसरे ने तीली जलाते हुए कहा—"छोड़ो भी, ह्वेलों में क्या धरा है। आज बारिश ज़रूर होगी।"

उसी क्षण बिजली कौंधी। फिर तुरन्त मेघ-गर्जना सुनाई दी। दूसरे की आँखें चमक उठीं—"देखा? मैंने क्या कहा था?"

रात के साढ़े दस का समय हो रहा था। पहला उठ खड़ा हुआ और बोला—"हमें बस-स्टॉप की ओर चलना चाहिए। मुझे पौने

ग्यारह के बाद कोई बस नहीं मिलेगी।''

''जाएँगे यार! क्या जल्दी है।'' दूसरे ने उसका हाथ पकड़कर बिठा देते हुए कहा—''बल्कि सच पूछो तो आज हम दोनों को पैदल, अकेले घर जाना चाहिए—भीगते हुए। फिर, खूब थककर अगले दिन बारह बजे तक सोते रहेंगे। दिन में सोने का एक बहुत बड़ा फायदा यह है कि लगातार पता तो चलता है कि हम सो रहे हैं, वरना रात के सोने में तो आदमी एकदम गायब हो जाता है! यह भी पता नहीं चलता उसे कि वह सो रहा है।''

पहला बैठ गया।

दोनों ने साथ-साथ ही पाँच साल पहले एम० ए० किया था। कॉलेज में उनकी दोस्ती पक्की हो गई थी। एम० ए० दर्शन-शास्त्र में किया होने के कारण उनमें इतनी योग्यता थी कि अगर चाहें तो किसी भी विषय पर अमूर्त ढंग से बातें कर सकें। बैठते ही पहले ने कहा—''ईश्वर कहाँ है? क्या उसे हमारे उपग्रहों से डर नहीं लगता? और जब ईश्वर नहीं है तो हम नैतिकता को गले से बाँधकर क्यों घूम रहे हैं?''

दूसरे ने कोई उत्तर न दिया। आज उसने अपने बड़े भाई से पाँच रुपये प्राप्त किए थे, अतः तुरन्त उसने चाय के दो और कपों का आर्डर दे दिया, फिर नई सिगरेट सुलगाते हुए पहले की ओर देख, आँखें सिकोड़ते हुए कहा—''नैतिकता का ईश्वर से नहीं, बच्चों से सम्बन्ध है।''

''कैसे?''

''सारी दुनिया में आज तक नैतिकता की एक ही धुरी रही है—यौन-सम्बन्ध। आज क्या ऐसा नहीं लगता कि यह धुरी बदल दी जानी चाहिए? या गायब कर देनी चाहिए? पुराने जमाने में यौन-सम्बन्धों के कारण बच्चे पैदा होते थे। उनके लालन-पालन का सवाल होने के कारण नैतिकता के बन्धन लगाए गए। आज...''ज़रा रुककर उसने फिर एक गहरा कश लिया—''आज सन्तति-नियमन के साधन उपलब्ध हैं। मानव ने यौन को बच्चों के लिए नहीं, आनन्द के लिए स्वीकारा है। और आनन्द हमेशा सार्वजनिक होना चाहिए।''

"वह निजी भी हो सकता है ..."

बारिश की छरछराहट शुरू हो गई। एक और मेघ-गर्जना हुई। इस खलल ने दोनों की बातचीत का सिलसिला तोड़ दिया। वे चुप-चाप बैठे हुए गिरती बूँदों की चिक को देखते रहे। उन्हें इसका भी ख्याल न आया कि जिस विषय पर उनमें बातचीत छिड़ी थी, उसके केन्द्र से वे शुरू से ही हटने लगे थे···

मुश्किल से पन्द्रह-सोलह मिनट बारिश हुई। वह रुकने ही लगी थी कि उन्होंने ऊँची और कर्कश एक आवाज़ सुनी, मुख्य सड़क की ओर से।

चौंककर दोनों ने एक-दूसरे की आँखों में देखा।

अगर शब्दों और वाक्यों के द्वारा वे तय करना चाहते कि उन्हें आवाज़ का कारण जानने का प्रयास करना चाहिए या नहीं, तो बहुत देर लग जाती, लेकिन उन्होंने अपने मौन दृष्टिपातों से ही सब तय कर लिया। दोनों एक झटके के साथ खड़े हुए और चाय के पैसे देकर, वापस मिले पैसों को बिना गिने जेब में रखकर सड़क की ओर लपके।

हल्की-हल्की बूंदें पड़ रही थीं। उनकी परवाह न करते हुए वे गीली ज़मीन पर जल्दी-जल्दी चौकन्ने कदम रखकर इस तरह बढ़ रहे थे, मानो वह कर्कश आवाज़ खास उन्हीं को बुलाने के लिए की गई हो।

निश्चय ही वह जोर से ब्रेक लगने की आवाज़ थी।

सड़क पर आने से पहले उन्हें एक गलियारा पार करना पड़ा। वह बदबू से भरा हुआ था। अगर उस आवाज़ में थोड़ी सनसनी महसूस न हुई होती, तो अभी दोनों अवश्य फुसफुसाए होते कि कनॉट-प्लेस में जहाँ एक्ट्रेसों को भी मात कर दें, ऐसी खूबसूरत पंजाबी लड़कियाँ महकती हुई घूमती हैं, ऐसे बदबूदार गलियारे भी हैं और जिन्हें ये गलियारे पार करने पड़ते हैं, वे अक्सर जीनियस होते हैं।

वे दौड़ पड़े क्योंकि उन्हें बीच सड़क पर एक भीड़ नज़र आई थी। वह बहुत तेज़ी से बढ़ती जा रही थी। "एक्सीडेण्ट !" पहला युवक बुदबुदाया।

"हटो ! हटो ! क्या बात है ! हवा आने दो !" कहते हुए वे दोनों भीड़ के केन्द्र में जा पहुँचे।

आधुनिक परिधान में, लगभग तीस साल की एक औरत ख़ून में सनी खड़ी थी और काँप रही थी। उसने एक मर्द का निढाल शरीर थाम रखा था। मर्द का सिर फट चुका था। औरत जिस ख़ून में सनी खड़ी थी, वह उसका अपना ख़ून था या मर्द का, नहीं कहा जा सकता था। मर्द बेहोश मालूम पड़ा। निमिष मात्र में उन दोनों ने सारे घटना-स्थल पर निगाह फेर ली। एक ओर एक स्कूटर उलटा पड़ा था। सामने ही एक कार खड़ी थी। उसका सामने का हिस्सा पिचक गया था। दाहिनी हैड-लाइट का काँच चूर-चूर होकर आस-पास बिखरा हुआ था। बाईं हैड-लाइट जल रही थी। कार का मालिक कौन है, भाँपना मुश्किल नहीं था।

ख़ून से सनी औरत और बेहोश मर्द के करीब ही एक और औरत खड़ी थी। उसकी उम्र लगभग पच्चीस थी। वह काफी छर-हरी और बाब-कट हेयर-स्टाइल में थी। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करे। अवश्य ही यह कार वही ड्राइव कर रही होगी। उसके चेहरे का रंग उड़ा हुआ था। 'टी-हाउस' बन्द होने वाला था, इसलिए उसकी अधिकांश रोशनियाँ बुझ चुकी थीं। कार की बाईं हैड-लाइट उस औरत पर सीधी पड़ रही थी।

न मालूम कब और किसने अपना सफेद, बड़ा-सा रूमाल ख़ून से सनी औरत को दे दिया था। उसे वह मर्द के माथे पर बाँधने का प्रयास करने लगी। उसकी कँपकँपी बढ़ आई। कार-मालकिन नज़दीक जाकर उसे सहायता देती हुई बुदबुदाई—"आइ डोन्ट नो, हाऊ इट हैपण्ड !"

भीड़ में से आवाज़ आई—"पुलिस को बुलाओ।"

कार-मालकिन ने आवाज की दिशा में देखा। कहा किसने, न भाँपा जा सका। अँधेरे-उजाले में डरावनी भीड़ का एक-एक व्यक्ति जैसे कहता महसूस हुआ···पुलिस को बुलाओ···

"नहीं।" मर्द को थाम रही उस ख़ून-सनी औरत ने धीमे स्वर में कहा—"इन्हें···इन्हें अस्पताल पहुँचाइए। प्लीज···और कुछ नहीं···पुलिस नहीं चाहिए।"

कार-मालकिन को अचानक जैसे छुटकारा मिल गया हो, इस तरह उसने कहा—"हाँ, हाँ, अस्पताल···जल्दी करिए···अस्पताल मैं पहुँचा देती हूँ। इन्हें कार में ले आइए।" और वह स्टीयरिंग के सामने जा बैठी। घरघराकर एंजिन चालू हुआ।

भीड़ में से एक आदमी ने आगे बढ़कर उल्टे पड़े स्कूटर को सीधा कर दिया था। दो-तीन लोगों ने खून-सनी औरत को सहायता देकर बेहोश मर्द को कार की पिछली सीट पर लिटा दिया।

एक समस्या यह भी थी कि उस स्कूटर का क्या किया जाए, जो चलने की हालत में था ही नहीं। कुछ आदमियों ने स्कूटर को कार की डिक्की में लाद दिया।

कार चली गई। भीड़ वहीं खड़ी रही। थोड़ी देर बाद उसमें से दसेक लोग चले गए। अब दस-पन्द्रह लोग बकाया रहे।

दोनों युवकों ने पाया कि वे भीड़ के प्रायः बीच में हैं। दोनों ने अपने आसपास इस तरह देखा, मानो यह तमाशा उन्होंने ही खड़ा किया हो।

एक ने भीड़ से पूछा, "क्योंजी, गलती किसकी थी ?"

"क्या मालूम, साहब—मैंने तो दूर से आवाज़ सुनी।" सामने खड़े एक व्यक्ति ने उत्तर दिया—"तुरन्त साइकल मोड़कर इधर आया तो देखा, एक्सीडेण्ट हो चुका था।"

दोनों युवकों ने गौर किया कि वह व्यक्ति सचमुच एक साइकल वाला ही था और इतना कहकर अब लोगों से निवेदन कर रहा था कि हटो, रास्ता दो। भीड़ ने रास्ता दे दिया।

एक तरफ से आवाज़ आई—"अच्छा हुआ जो पुलिस के चक्कर में नहीं पड़े, वरना जब तक पुलिस आती और तहकीकात करती, तब तक वह आदमी बेचारा यहीं पड़ा रहता।"

"हाँ जी, आप ठीक कहते हैं। और ऐसे मामलों में कसूर-बेकसूर को देखता कौन है ! कसूर स्कूटर वाले का हो तो तब भी फँसता कार वाला ही है।"

"वाला नहीं, वाली थी वाली !" किसी मनचले ने हँसकर कहा।

पहला युवक दूसरे की ओर देखकर बोला—"मुझे कुछ दाल में काला मालूम पड़ता है।"

"क्यों ?" दूसरे ने तो पूछा ही, साथ-साथ अधिकांश लोग, आँखों में यही सवाल भरे हुए, पहले युवक के पास सरक आए।

"ये स्कूटर वाले पति-पत्नी नहीं थे।" पहले ने सिर हिलाते हुए कहा।

"तुम्हें कैसे मालूम ?"

"मर्द को इतनी ज़्यादा चोट नहीं आई थी कि पुलिस आने तक इन्तज़ार न हो सकता। उसकी वेहोशी तो अभी दूर हो जाती।"

"तुम कहना क्या चाहते हो ?"

"यही कि अगर पुलिस आती तो उन दोनों को लिखवाना पड़ता कि वे कौन हैं।"

"तो लिखवा देते।"

"यही तो घपला है।" पहले युवक ने भीड़ को सम्बोधित करते हुए पूछा—"आप ही बताए, इतनी रात कोई भले घर का मर्द अपनी बीबी को साथ लेकर बाहर निकलेगा ? ज़रूर वे पति-पत्नी नहीं थे।"

दूसरे युवक ने पाया कि उसके भीतर इस वक्तव्य के प्रति तीव्र आक्रोश अभी-अभी उबल गया है। वह ज़रा आगे आकर बोला—"सावन के अन्धे को हरा-ही-हरा सूझता है। दिल्ली के लोग खुले दिल के हैं। बारह क्या, रात के एक या दो बजे भी कहीं आ-जा रहे हों, तो इसका मतलब यह थोड़े ही है कि वे लफंगे थे।"

"देखो जी, मैंने लफंगे शब्द का इस्तेमाल नहीं किया।" पहले युवक ने दूसरे को घूरकर देखा—"मैं तो सिर्फ इतना कह रहा था कि वे पति-पत्नी नहीं थे।"

"भाई-बहन हो सकते थे।" दूसरे ने व्यंग्य किया।

"भाई-बहन भी नहीं···ऐसे ही···उनमें याराना रहा होगा···"

"अरे, तो इसमें झगड़ने की क्या बात है ?" भीड़ में खड़े बुज़ुर्ग-से नज़र आते एक व्यक्ति ने हँसकर कहा—"होंगे कोई भी !"

"झगड़ने की बात क्यों नहीं है जी ?" दूसरे युवक ने पहले की

ओर तीखी निगाह से देखा—"इस तरह तो यह सारी दिल्ली को बदनाम कर देगा।"

सुनते ही पहले युवक को लगा कि उसके खून का दौर तेज़ हो गया है। "देखो, तुम मेरे दोस्त हो…" उसने दूसरे युवक से स्पष्ट कहा—"लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि तुम मुझे सबके सामने ज़लील करो।"

"ठीक है, लेकिन तुम्हें अगर शक था तो उन्हें जाने क्यों दिया?" दूसरे ने उत्तर दिया—"रोक लेते उन्हें! कहते कि पुलिस को बुलाकर ही फैसला होगा। एक बार तुम कहते, फिर सभी इस पर अड़ जाते। क्यों जी?" दूसरे ने भीड़ का समर्थन पाने के लिए चारों ओर निगाह फेरी।

"अभी भी क्या बिगड़ा है।" पहला युवक बोला—"किसीने कार का नम्बर नोट किया है?"

"कार से तुम्हें मतलब?" दूसरे ने फिर तीखे बनते हुए पूछा।

"कार वाली भी बदमाश रही होगी। वैसी जवान औरत इतनी रात अकेली कार में…" पहले ने अभी यही कहा था कि दूसरा ज़ोर से हँस पड़ा, "लो! अब कार वाली का भी नम्बर लग गया! फिर यह कहेगा कि भीड़ में जितने लोग खड़े हैं, सभी बदमाश हैं, वरना इतनी रात गए कनॉट-प्लेस में क्यों होते…"

इस पर भीड़ के चार-पाँच लोग काफी ज्यादा हँसे। पहले युवक का चेहरा आवेश से बुरी तरह तन आया, लेकिन उसने फिर ऊँची आवाज में अपना सवाल दोहराया—"क्यों जी, किसी ने कार का नम्बर नोट किया है क्या?"

"अजी, अँधेरे में नम्बर कहाँ दीखता है।"

"क्यों? उसकी नम्बर-प्लेट पर रोशनी नहीं थी?"

"शायद नहीं ही थी।" किसीने कहा। पहले युवक को इससे बहुत बल मिला। वह तुरन्त बोला—"देखा?…ज़रूर कोई घपला है। वरना नम्बर बुझाकर चलने की क्या जरूरत? खैर…स्कूटर का नम्बर तो किसी ने नोट किया होगा?"

भीड़ चुप रही।

यह खामोशी दूसरे युवक के हास्य से भंग हुई। सूनेपन में वह अट्टहास और भी विशाल लग रहा था। उसने पहले युवक की ओर हँसते-हँसते इशारा किया और कहा—"इसका दिमाग खराब हो गया है।"

"हूऊऊऊ! याहू ऊ!" भीड़ में खड़ा एक आवारा कीक उठा। कीक ने पहले युवक को इतना उत्तेजित कर दिया कि अगर आसपास उतना अँधेरा न होता तो उसके चेहरे का लाल रंग सब देख सकते। अचानक वह दूसरे युवक पर झपटा और उसे साथ लिए-लिए ज़मीन पर आ रहा। दूसरा युवक इसके लिए तैयार नहीं था, लेकिन अपने आश्चर्य पर शीघ्र ही विजय पाकर वह सक्रिय हो उठा।

दोनों में बुरी तरह उठा-पटक होने लगी।

मिनट दो मिनट इसका अतटस्थ निरीक्षण करने के बाद भीड़ ने दोनों को जुदा कर दिया। दोनों को मामूली खरोंचें आई थीं।

लोग जाने लगे। वे बुदबुदा रहे थे कि कसूर दोनों का ही होना चाहिए—कार वाली का और स्कूटर वाले का भी—क्योंकि एक हाथ से ताली नहीं बजती···और जहाँ तक उनके चरित्रों का सवाल है, मुमकिन है : कार वाली भी 'खराब' हो और स्कूटर वाले मर्द-औरत भी···या मुमकिन है, वे तीनों ज़रा भी 'वैसे' न रहे हों··· इस दुनिया में कौन किसको पहचान सकता है!···

भीड़ ने यह 'तथ्य' उन दोनों युवकों को भी समझा दिया। वे खामोश लापरवाही से सुनते रहे।

भीड़ बिखरने के बाद फिर से वे दोनों अकेले और आमने-सामने थे। उन्होंने आकाश की ओर देखा। बादल थे तो सही, लेकिन शायद बरसने वाले नहीं। उन्होंने एक-दूसरे की कमर में हाथ डालकर बेवजह एक ओर चलना शुरू कर दिया···थोड़ी देर बाद उनमें से एक बोला—"यार, अभी वाकई मज़ा आ गया।" और वे हल्की सीटी में कोई फिल्मी धुन गुनगुनाने लगे।

१०

रूठी किस्मत

राष्ट्रीयता के साथ-साथ राष्ट्रभाषा की ओर भी देशवासियों का ध्यान गया और अनेक अहिन्दी भाषी लेखक हिन्दी की सेवा में आ गए। जो लोग अपनी प्रतिभा के कारण चमके उनमें रमेश अरिगपूड़ि का नाम प्रसिद्ध है। समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में लिखते रहते हैं। उनके चार कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें 'विचित्र निदान' संग्रह प्रसिद्ध है। ये कहानियाँ "एक असाधारण घटना या विशेष मन्तव्य या अनुभव को लेकर ही एक वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य के साथ लिखी गई हैं"। "लेखक की शक्ति और प्रतिभा इसी में है कि वह दूसरों के अनुभवों को आत्मसात् कर सके···'स्व' और 'पर' में तादात्म्य स्थापित करे। यह भावुक तरलता ही उसकी निजी पूंजी है। संवेदना की स्फूर्ति ही उसकी निधि है"।

'रुठी किस्मत' कहानी में समाज का एक नया परिवेश चित्रित हुआ है। माता की मृत्यु के बाद सुशीला पर तीन छोटी बहिनों के पालन-पोषण, शिक्षा-संस्कार का भार आ गया, इसलिए उसने विवाह नहीं किया। सबसे छोटी बहिन लीना का डेविड के साथ विवाह हो गया और वह चली गई, तो सुशीला को अकेलापन बहुत खलने लगा।" अच्छा बड़ा बढ़िया मकान है, जेवर-जवाहरात भी हैं··· किन्तु सुशीला में भी वे सब उमंगे उठी थीं, जो उसकी बहिनों में उठी थीं···। "अस्तु, पैंतालीस वर्ष की सुशीला ने विवाह का विज्ञा-

पन दिया और उत्तर में अपना बीस वर्ष पुराना फोटो दे दिया। उधर उस आदमी ने भी अपना बीस वर्ष पुराना फोटो भेजा था। ''शायद दो व्यक्ति, जो जीवन की धारा में मिलने जाते हैं, उनके मन भी एक ही तरह, एक ही दिशा में लुढ़कने लगते हैं''। जब वह मिलने आया, शादी करने आया तो 'झुर्रियाँ-ही-झुर्रियाँ। नाटा कद, डॉ० सुशीला से भी दो इंच कम···साठ-पेंसठ का खूसट, बुढ़ऊ''। घर आकर वह रोती रही। ''डॉ० सुशीला को लगा जैसे उसकी तीनों बहिनें, दरवाजे पर खड़ी होकर, अपने-अपने पतियों के साथ, ठट्ठा मारकर हँस रही थीं''।

रूठी किस्मत

झुकी नजर ऊपर उठी,···दरवाजे में से लीना और डेविड जा रहे थे·· खिलखिलाते, हँसते···सुशीला की आँखें डबडबा उठीं···उठी नजर फिर झुक गई।

यही दृश्य पहले भी तीन बार देखा था, और न मालूम क्या-क्या सोचा था, फिर सोचा था कि सोचने से भी क्या फायदा, यदि जो सोचे वह हो ही न।

आँसू ? छलक ही पड़ते हैं कभी-कभी बे-मौसमी बादलों की तरह। नहीं तो क्या यह भी कोई आँसू बहाने का समय है ? शादी करके खुशी-खुशी वे जा रहे हैं। और मेरी आँखों में आँसू ?···सुशीला ने सोचा, और आँखे पोंछ कर तुरन्त खड़ी हो गई। बराण्डे में गई। वहाँ लीना डेविड के साथ खड़ी थी। बड़ा-सा चेहरा, उस पर मुस्क-राहट-ही-मुस्कराहट दिखाई देती थी·· सुशीला कोई अभिनेत्री तो थी नहीं कि बनावटी मुस्कराहट भी स्वाभाविक लगती···मुस्कराहट विचित्र-सी लगती थी···गमी और खुशी की झिलमिलाती छाया की तरह···मुखौट-सी।

लीना और डेविड कार में बैठे। लीना ने मुस्करा भर दिया··· सुशीला को यह मुस्कराहट अखरी,···ऐसे समय लड़कियाँ रोती हैं न ? शायद माँ-बाप के सामने, बहन के सामने नहीं। खैर डेविड के हाथ विदा की अनुमति के लिए अनायास जुड़ गए। लीना घर छोड़ कर अपना घर अलग बसाने के लिए जा रही थी। खुशी का समय,

खुशी की बात, और उस खुशी में शायद वह अपनी बहिन को भी करीब-करीब भूल गई थी।

पर सुशीला कैसे भूले ? वह भी खुश थी। लीना जा रही थी, और लीना के साथ एक जिम्मेवारी भी जा रही थी। खुशी की बात थी, न मालूम माँ क्यों याद हो आई···शायद इसीलिए कि आज माँ होती तो ? हाँ, तो क्या मैं यहाँ इस हालत में होती···सहसा अटके आँसू छलक गए। और कार फाटक में से बाहर चली गई। डेविड सुशीला की ओर देख रहा था और शायद उसके नाम के बोर्ड पर।

सुशीला को भी न मालूम क्यों बोर्ड का ख्याल आया। आजकल लोग डाक्टर के साथ श्रीमती भी लगाने लगे हैं। "श्रीमती" शब्द आप कुछ सूचित करता-सा लगता है वैसे ही जैसे कि "बिवेयर ऑफ डोग्स" करता है।

अगर सब कुछ वैसा ही होता जैसा कि सोचा गया था, तो लीना भी बोर्ड लटका सकती थी—"डॉ० मिसेज लीना डेविड।" पर वह डाक्टर नहीं बन पाई। खैर, घरवाली बन गई, यही काफी है। मैं हूँ न ? मैंने डाक्टर बनकर क्या पाया ?

सुशीला ऐसी मूड में थी कि उसे हर चीज का काला पासा ही दिखाई दे रहा था।

जो कुछ सोचते हैं, वह होता नहीं है, इसलिए ही तो भगवान् की कल्पना की जाती है, कोसा जाता है, रिझाया जाता है, कोसने और रिझाने के लिए भी तो किसी-न-किसी व्यक्ति की कल्पना आवश्यक है !

लीना भी चली गई···बहुत-सी बातें हैं, क्या-क्या बातें याद की जाएँ।

तीन बहिनें हैं शादी क्या हुई कि पराई हो गईं। (उनके बच्चे हैं, मैं उनकी मौसी हूँ) कोई भी तो भूल कर चिट्ठी नहीं लिखती··· "प्रिय बहन सुशीला आशा है तुम सकुशल हो"···औपचारिक चिट्ठियाँ भी तो नहीं आतीं ! वह सब मैंने किया जो माँ-बाप करते हैं···क्या मैं एक चिट्ठी की भी अधिकारिणी नहीं हूँ ?

यह दुनिया अजीब है, सब की अपनी-अपनी दुनिया है। बहिनों की भी है···मेरी भी है, पर मुझे अपनी दुनिया बदलनी होगी, नई दुनिया बनानी होगी···

आइने के सामने खड़े होकर सुशीला अपने से कह रही थी। उम्र पैंतालीस की हो गई है, तो क्या ? मुझे भी तो अपने ढंग से जीने का हक है, प्रेम पाने और देने का हक है। अब तक चक्की में पिसती रही, अब आजाद हूँ···अब तो अपनी दुनिया बनाऊँ, चाह पूरी करूँ !

सुशीला न मालूम क्यों मकान के सारे कमरों में हो आई···कोई भी तो नहीं था, तीन बहिनें थीं, सब चली गईं। भाई नहीं, भाई होते तो यह सब मुझे करना ही क्यों पड़ता ? अगर मैं इन बहिनों की परवरिश की जिम्मेवारी ही नहीं लेती तो क्या होता ? मुझे फाँसी तो नहीं दी जाती ? पर हर काम इसलिए तो नहीं किया जाता कि उसके न करने से फाँसी की आशंका है ! खैर, अब तो जिम्मेवारियाँ भी खत्म हो गई हैं, फिर वही अकेलापन, सूनापन, एकान्त।

सुशीला बेंत की कुर्सी लेकर, मकान के बाहर, लॉन में बैठ गई। जब कभी वह बैठती तो गुजरी जिन्दगी सामने आती थी···माँ-बाप का गुजर जाना, उस पर तीन बहिनों की जिम्मेवारी का आना··· लेकिन आज आगे की सोच रही थी। जिम्मेवारी ही सही, पर यह न हो, तो हर कोई भटका-भटका सा, भूला-भूला सा अनुभव करता है···सुशीला भी कुछ यों ही अनुभव कर रही थी।

वह शहर की जानी-मानी लेडी डॉक्टर है। काफी अच्छी प्रेक्टिस है। अगर ये जिम्मेवारियाँ न होतीं तो वह भी बहुत-कुछ पैसा जमा कर सकती थी। अब भी माली हालत कोई खराब नहीं है। अच्छा बड़ा बढ़िया मकान है, जेवर, जवाहरात भी हैं, थोड़ा-बहुत बैंक बेलेन्स है, खाने-पीने की कोई तंगी नहीं, किसी चीज की कोई खास कमी नहीं; मजे में चल रही थी जिन्दगी। किन्तु सुशीला में भी वे सब उमंगें उठी थीं, जो उसकी बहिनों में उठी थीं, जिन्होंने उनको शादी करके अपना अलग घर बसाने के लिए प्रेरित किया था। पर वह अब तक उन उमंगों को जकड़कर, काबू में रखती आई थी। मगर कब तक ?

उम्र हो गई थी, पर वे सब बातें उसकी जिन्दगी में नहीं हुई थीं, जो उम्र के साथ हुआ करती हैं। हवश हवश ही रह गई थी, कोई अजीब-सी भूख उसे सता रही थी, कोई चाह उसे बेचैन कर रही थी, कोई सुनहला सपना उसे ललचाता इशारा करता-सा लगता था।

कई दिन उसने यूँ ही काट दिए, कुछ सूझा नहीं। घर कापता-सा लगा। कुछ सूझा नहीं। इतना सब-कुछ इन बहिनों के लिए किया था, पर एक ने भी तो अपने घर कभी बुलाया नहीं···शायद इसलिए कि मैं क्वारी हूँ, कौन जाने क्या कारण थे।

डॉ० सुशीला के लिए ये बड़ी बेचैनी के दिन थे। प्राय: वह अखबार पढ़ती, और उनमें विवाह के विज्ञापन भी देखती···फिर यह सोचकर कि इस उम्र में उससे कौन शादी करेगा, उसने उन्हें पढ़ना भी छोड़ दिया था। एक दो-बार जब विज्ञापन के उत्तर में लिखा तो मुँह की खानी पड़ी।

और कोई रास्ता न था। उस दिन उसने अखबार में विज्ञापन देने की ठानी···लेडी डॉक्टर, अच्छी आय, स्वस्थ एवं सुन्दर उत्तम परिवार···विधुर भी इस सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार कर सकते हैं।

विज्ञापन देकर सुशीला घर में न रह सकी। इतना उत्साह, इतनी उत्सुकता कि वह एक जगह बैठ भी न पाती थी। इस तरह बाजार में चीजें खरीदती रही, जैसे उसकी शादी धूमधाम से होने जा रही हो···विशेष प्रकार का आनन्द, प्रफुल्लता !

वह उन परिचितों के घर भी मिलने गई जिन्हें मिलने के लिए उसके पास समय न था। उसकी हरकतें ऐसी थीं, मानो वह शादी करके ही रहेगी, कुछ भी हो, उम्र चालीस हो या साठ, विधुर हो या क्वारा। शहर में डॉ०सुशीला के बारे में कानाफूसी भी होने लगी थी।

शायद डॉ० सुशीला ने भी उम्मीद न की थी, उसके विज्ञापन के उत्तर में पत्रों के गट्ठर आएँगे, और जब वे न आए, तो वह अधिक निराश भी न हुई। शायद उसका विज्ञापन उतना आकर्षक न था, शायद वह अखबार उतना बहुपठित न था, या शायद उसकी किस्मत ही खराब थी। केवल तीन पत्र आए। एक कोई फौज का रिटायर्ड

अफसर था, जो कोटगिरि में रह रहा था, उम्र ६३ की थी, पेन्शन बहुत न सही, कम भी न थी। सुशीला को वह न भाया। उसने सोचा कि वह पत्नी नहीं नर्स चाहता है, और मैं नर्स बनने के लिए तैयार नहीं हूँ।

दूसरा पत्र किसी टीचर का था। चार लड़कियों का बाप, सुशीला के पिता की तरह। पत्नी हाल में गुजर गई थी।···तीन की शादियाँ कर चुकी थी, अब चार और की कैसे शादी करूँ? सुशीला ने सोचा। एक टीचर और एक डॉक्टर से शादी करने की उम्मीद! वह पत्नी नहीं, बच्चों के लिए माँ चाहता है···नहीं।

तीसरा कोई छोटा-मोटा जमींदार था। मलाबार का, आमदनी खराब न थी। उम्र का जिक्र न था, यह भी न बताया गया था कि क्वारा है, या विधुर। डॉ० सुशीला ने सोचा, भाषा भले ही भिन्न हो, अंग्रेजी तो जानता ही होगा,···यह कुछ जँचता है···डॉ० सुशीला ने सोचा। तुरन्त उसको पत्र लिखा। डॉ० सुशीला ने सोचा अवश्य कि ऐसी बातें चिट्ठी-पत्री में कहीं तय होती हैं!

पर कौन जाए बातचीत करने? है ही कौन? कोई सोलह-सत्रह की तो हूँ नहीं कि बड़े बुजुर्ग दौड़ धूप करें···। सुशीला कुछ झेंपीं।

फिर उस 'जमींदार' से चिट्ठी आई कि डॉ० सुशीला अपना फोटो भेजे। वह स्वयं व्यस्त था, इसलिए वह स्वयं उसको देखने नहीं आ सकता था। न जाने क्यों इस बात ने सुशीला को प्रभावित किया? वह हवाई क़िले बनाने लगी···उन्हीं ख्यालों से वह खिलवाड़ करने लगी, जिनको सोचते वह कभी लजाती थी।

बहुत कुछ सोच-सोच कर, झेंपने-झिझकने के बाद, डॉ० सुशीला ने अपना बीस वर्ष पुराना फोटो भेजा···उस समय का जब वह मद्रास में मेडिकल कॉलिज में पढ़ती थी,···सोचा था कि यदि कभी माँग होगी, तो उस फोटो को भेजेगी,···आज बीस साल बाद, उसकी माँग हुई है। फोटो अच्छी थी; फिर यह भी सोचा कि नया फोटोग्राफ भेजा गया तो यह आदमी भी शायद मुड़कर पीछे चला जाए। झूठ था, धोखा था, पर बड़ों ने कहा भी तो है कि हजार झूठ बोलकर भी

एक शादी करवाओ। यह गलत काम करके भी डॉ० सुशीला बिल्कुल शर्मिन्दा न थी।

कुछ अच्छे दिनों की बात थी,·· शादी हो रही है···शुभ-कार्य क्यों अशुभ समय में किया जाए ? न डॉ० सुशीला उसको देखने गई, न वे 'दूल्हा' सज्जन ही उसको देखने आ सके। इस बीच डा० सुशीला ने उनको फोटो भेजने के लिए लिखा।

न मालूम क्यों उनको भी वही बात सूझी, जो डॉ० सुशीला को सूझी थी,···शायद दो व्यक्ति, जो जीवन की धारा में मिलने जाते हैं, उनके मन भी एक ही तरह, एक ही दिशा में लुढ़कने लगते हैं। गरज यह कि उन्होंने भी अपनी बीस साल पुरानी फोटो भेजी···अच्छा-भला खूबसूरत चेहरा, नाक-नक्श सब ठीक, रईसी मूँछे, रौबीला शरीर। डॉ० सुशीला फोटो देखकर प्रभावित हुईं।

सोते-सोते तो हर कोई सपना देखता है; यदि मन में उत्कंठा उफन रही हो, तो हर समय सपने दीखते हैं और समय भारी हो जाता है। डॉ० सुशीला का समय काटे नहीं कटता था। अकेलापन जो पहले ही नहीं सहा जा रहा था, अब और असह्य हो उठा था। कब वे आएँगे ? क्या मेरी बहिनें खुश होंगी ? शायद हाँ, वे मुझ पर तरस खाएँ। लीना नाराज है, क्योंकि वह जानती है कि यदि मेरी शादी हो गई तो मैं पैसा न दूंगी। उसे फिलहाल पैसे की जरूरत है। डेविड बेकार है··मोहब्बत की शादी। खैर, मैं···, मुझे क्या कोई खुश हो या न हो, कुछ भी हो, अब जिन्दगी आधी हो ही गई है, और किया क्या अब तक ? अब मेरी हवश पूरी हो रही है, न जाने कितने लोग मेरी खुशी पर जलें, जलते रहें। मुझे क्या ?

गुजरते-गुजरते वह दिन भी आया, जब वे 'सज्जन' आए। डॉ० सुशीला स्टेशन पर उन्हें मिलने गई। छोटा-सा स्टेशन, गाड़ी भी बड़ी न थी, दो बार गाड़ी छान गई, किसी को देखती, और फोटो से उसकी शक्ल मिलाने की कोशिश करती। कहीं किस्मत ने फिर खिल-वाड़ तो नहीं किया है ? क्या आशाएँ उपजीं, और उपजते ही उन पर पाला बरसा,···'वह सोच ही रही थी कि एक व्यक्ति ने आकर पूछा,

"आप क्या डॉ० सुशीला का मकान जानती हैं ?"

"जी, आप ? आप ही क्या पालघाट से आ रहे हैं ?"

"जी, आपको क्या डॉ० सुशीला ने भेजा है ?"

"मेरा नाम ही डा० सुशीला है···" डॉ० सुशीला की आवाज इस तरह खिंच रही थी, जैसे वह आह भर रही हो। वह ढह-सी गई। मन का उफान यूँ थमा जैसे किसी उबलती चीज के नीचे से आग निकाल दी गई हो।

तो आप हैं डॉ० सुशीला ! हाँ-हाँ आपकी शक्ल हूबहू वैसी ही है, जैसे कि फोटो में थी,···वह व्यक्ति मुस्कराता-मुस्कराता कह रहा था, और डॉ० सुशीला सोच रही थी, एक तो धोखा, तिस पर ताना। वह नाक-भौं चढ़ा रही थी।

वह 'अच्छा, भोला खूबसूरत चेहरा' बिल्कुल निचुड़ा हुआ-सा था। झुर्रियाँ-ही-झुर्रियाँ। नाटा कद,···डा० सुशीला से दो इन्च कम। भुना काला रंग···नाक-नक्शा बिल्कुल ठीक, पर ऐसा जैसे उनमें दरारें पड़ गई हों। साठ-पैंसठ का खूसट, बुढ़ऊ।

डॉ० सुशीला आगे-आगे इस तरह चल रही थी मानो किसी से पिण्ड छुड़ाकर भागी जा रही हो। पर वह पैंसठ वर्ष का बूढ़ा, यों चल रहा था, जैसे उसे कोई तेजी से खींच रहा हो।

डॉ० सुशीला अपनी कार में बैठी, तो वह भी इस तरह उसमें बैठा, जैसे वह उसकी अपनी हो, और होंठ चपटे करके मुस्कराने लगा, मानो मैदान मार लिया हो। और डॉ० सुशीला का जी चाह रहा था कि उस पर नश्तर चला दे, उसे उठाकर सड़क के पास के कटे लक्कड़ों में फैंक दे। पुलिस को इत्तिला दे, पर कैसे दे ? किस मुँह से दे। उसी के निमन्त्रण पर तो वह आया था।

डॉ० सुशीला झुँझला उठी।

वे घर पहुँचे। वह व्यक्ति बैठक में जा बैठा। डा० सुशीला का नौकर हक्का-बक्का था। वह भी शायद हँसना चाहता था, पर मुख बन्द करके हाथ जोड़ता, उसने उनका सामान लाकर अन्दर रख दिया।

डॉ० सुशीला की हालत ऐसी कि वह उसे रोक भी न सकती थी, कुछ कह न पा रही थी। अपने कमरे में जाकर औंधे मुँह बिस्तर पर गिर पड़ी, जैसे, क्लोरोफार्म सूँघ लिया हो।

कितनी देर सिसकती ! सिसकने से उलझी बात सुलझ तो नहीं सकती थी। उठी। उस कमरे में गई, जहाँ वे बैठे थे। "आपका मकान तो बड़ा अच्छा है ! जगह अच्छी है, लोग कहते हैं गर्मियों में यहाँ ज्यादा गर्मी होती है..." उन्होंने कहा।

"क्यों आपका यहीं धरना देने का इरादा है ?" सकुचाती-सकुचाती डॉ० सुशीला पूछ ही बैठी।

"हाँ-हाँ, धरने की क्या बात है। शादी-वादी का आपने इन्तजाम कर दिया है न ?"

"शादी ?...शा...दी ?" डॉ० सुशीला हकलाने लगी। फिर बढ़ते गुस्से ने उसको हकलाने भी न दिया।

"हूँ, मैं वहाँ सबको छोड़-छाड़कर आया हूँ,...परिवार को, जमीन-जायदाद को, मामला उलझेगा, चिट्ठी-पत्री का सबूत है ही, बताए देता हूँ।" उस व्यक्ति ने इस प्रकार कहा जैसे रास्ते भर इन वाक्यों को रट-रट कर रिहर्सल करता लाया हो। डॉ० सुशीला भी जान सकती थी कि वह रौब गाँठने की कोशिश कर रहा था। पर क्या कहती, क्या करती ?

"आपने गलत फोटो भेजा। क्यों भेजा था ? मैं पुलिस में..."

डॉ० सुशीला कह रही थी, कि इस बीच वे तपाक से बोले, क्या मैंने ही गलत फोटो भेजा था ? आपने शायद सही फोटो भेजा था ! ताना मारकर, खिलखिलाकर वे हँसने लगे। उसकी हँसी के कारण डॉ० सुशीला के बदन पर चिनगारियाँ-सी लग रही थीं। लहू का घूँट पीकर रह गई।

डॉ० सुशीला को लगा जैसे उसकी तीनों बहिनें, दरवाजे पर खड़ी होकर, अपने-अपने पतियों के साथ, ठट्ठा मार कर हँस रही थीं। उपहास कर रही थीं। उसने खीझकर आँखें फेर लीं, नजर मोड़ ली।

११

अपना प्रतिरूप

यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक' का नाम वैज्ञानिक कहानियों के लिए हिन्दी में अकेला है। नैनीताल-निवासी अशोक जी के अब तक चार उपन्यास 'चक्षुदान', 'अन्न का आविष्कार', 'दोपहर का अँधेरा' तथा 'शैलवधू' प्रकाशित हो चुके हैं; इनमें 'शैलवधू' आंचलिक है—पहाड़ी जीवन का चित्रण करने वाला। आपके निबन्ध-संग्रह 'सूर्य की कहानी' तथा 'चाँद-तारों की कहानी' काफी प्रसिद्ध है। कहानियों के तीन संग्रह प्रकाशित हैं—'अस्थिपंजर', 'शैल गाथा' तथा 'अप्सरा का सम्मोहन तथा अन्य वैज्ञानिक कहानियाँ।

अशोक के साहित्य में दो विशेषताओं पर ध्यान जाता है: 'पहाड़ी जीवन की सच्ची, सजीव और मार्मिक अभिव्यंजना', तथा 'मनोरंजन के साथ-साथ जीवन का वैज्ञानिक बोध'। व्यवसाय से वैज्ञानिक होते हुए भी यमुनादत्तजी साहित्य-सेवा करते रहे हैं। पुरातत्व पर उनके निबन्ध संग्रहणीय हैं। पुरातत्व से गंभीरता, विज्ञान से निर्भ्रान्त विवेचन एवं साहित्य से मार्मिकता प्राप्त करके आपकी शैली प्रभावशैली बन गई है। उनके कहानी-लेखन का प्रारम्भ उस समय हो गया था, जब विद्यार्थी-जीवन में ही "वैज्ञानिक की पत्नी" कहानी पर प्रयाग विश्वविद्यालय में आपको प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में से 'सन्तति-शास्त्र' (जेनेटिक्स) का भी अपना विशेष महत्व है। वे कौन-सी बातें हैं जो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से अलग बना देती हैं और इससे भी रहस्यपूर्ण वे कौन

सी बातें हैं जो अलग-अलग व्यक्तियों में समानता प्राप्त करा देती हैं। इसी समस्या पर शोध-कार्य में व्यस्त अरुण को अमरीका में अपना नाम का एक कार्ड मिला—किसी अतिथि का। होटल के बैरे ने बताया कि उसकी शक्ल-सूरत भी अरुण से मिलती-जुलती थी। सोचते-सोचते उसने समानता के दूसरे सूत्र भी खोज लिए। नाम, रूप दोनों की समता हो तो गुण और परिवेश की कल्पना भी की जा सकती है। इस रहस्य का अनावरण उस समय हुआ जब अरुण को पता लगा कि यह कार्ड उसका ही था जिसको वह जहाज के किसी कर्मचारी को अपने पते के लिए दे आया था। कल्पनाजन्य रहस्य यथार्थ के धरातल पर खुल जाता है।

अपना प्रतिरूप

विजिटिंग कार्ड पर दृष्टि पड़ते ही अरुण दंग रह गया। कार्ड में छपा नाम बिलकुल उसीका था, कहीं एक अक्षर भी भिन्न न था। अपने देश में तो एक ही नाम के कोई व्यक्ति मिल जाते हैं, पर विदेश में तो और वहाँ भी ऐसे स्थान में, जहाँ कि भारतीय वर्ष में एक-दो बार पहुँचता है, अपने ही नाम के एक व्यक्ति का अपने से मिलने आ जाना सचमुच बड़े आश्चर्य की बात थी।

अरुण ने कार्ड लाने वाले होटल के बेरे से कहा—"मिलने वाले सज्जन को बुला लो।" स्वयं अरुण की इच्छा हुई कि बाहर जाकर अपने ही नाम के व्यक्ति को बुलाकर अन्दर ले आए; किन्तु इस देश में इतनी अधिक आत्मीयता किसी अपरिचित व्यक्ति के प्रति दिखाने, और इस सजे-बजे होटल में, शायद शिष्टाचार के विरुद्ध हो, इसीलिए संकोचवश वह स्वयं बाहर न आया। बैरे ने थोड़ी देर बाद आकर कहा—"साहब, वह मिलनेवाले तो चले गए हैं।"

"चले गए हैं ?" अरुण ने आश्चर्य से पूछा—"क्या बहुत देर से मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे ?"

"हाँ, लगभग घण्टा भर हुआ होगा—" बैरे ने कहा।

"तब उसके आने की तुमने अब तक मुझे सूचना क्यों नहीं दी ?"

"साहब, जिस समय वह आये, आप 'ब्रेकफास्ट' कर रहे थे, उसके बाद आप उस मण्डली से मिल रहे थे, जिसने आपसे मिलने के लिए कल ही से वचन ले लिया था और जिन्हें आप सुबह ८ बजे

का समय भी दे चुके थे, इसलिए मैंने कार्य में वाधा डालना उचित नहीं समझा।''

कार्ड को अँगुलियों के बीच लेकर उसकी किनारी को मेज में अनायास ठोंकते हुए अरुण ने उच्छ्वास लेकर कहा—''बेचारा न जाने किस काम से आया था।''

अरुण की व्यग्रता देखकर होटल के बैरे ने अपनी गलती पर दुःख प्रकट करते हुए कहा—''क्षमा कीजिए, मुझे ज्ञात न था कि उस व्यक्ति से मिलना इतना आवश्यक था। आपने तो मुझे बतलाया भी न था कि इस प्रकार का व्यक्ति आपसे मिलने आवेगा। मैं तो उसे कोई ऐसा ही पत्रकार समझे था, जो विदेशी व्यक्ति के इस होटल में आने पर व्यर्थ ही उससे इधर-उधर की वेकार बातें पूछ-पूछ कर परेशान कर देते हैं।''

''पत्रकार ? क्या सचमुच वह पत्रकार था ?'' अरुण ने कहा।

बैरा कुछ सोचकर बोला—''हो सकता है, पर हुजूर, मैं ठीक नहीं वतला सकता। कभी-कभी सरकारी भेदिए भी इस प्रकार आ जाते हैं।''

''नाम तो उसका ऐसा ही है कि वह मेरी ही भाँति कोई व्यक्ति होगा ?'' अरुण ने पूछा।

''हाँ हुजूर'' बैरे ने कहा—''वह आपसे कुछ-कुछ मिलता-जुलता था।''

अरुण की इच्छा हुई कि बैरे से पूछे कि वह कैसे कपड़े पहने था ? किस वर्ण का था ? पर अपनी जिज्ञासा को रोकना ही उस समय शिष्टता समझकर अरुण ने कहा—''अच्छा, अब याद रखो कि जब वह फिर मिलने आए, तो उसे तुरन्त मुझसे मिलने देना।''

बैरे ने कहा—''साहब, अब ऐसा ही करूँगा।''

बैरे को विदा करके अरुण सोचने लगा—''कैसे आश्चर्य की बात है कि वह व्यक्ति मेरी शक्ल-सूरत का था। दुर्भाग्य, कि मैं उससे मिल भी न सका।''

सन्तति-शास्त्र की सर्वोच्च परीक्षा उत्तीर्ण करके इसी सम्बन्ध

में अन्वेषण करने के लिए अरुण अमेरिका पहुँचा था, तभी उक्त घटना घटी थी। उसकी गवेषणाएँ आधुनिक अन्वेषणों को भारतीय दर्शन-शास्त्रों के बहुत समीप ले आती थीं। 'युग्म की समस्या' नामक अपनी लेखमाला में उसने सप्रमाण यह दिखाया था कि 'कर्म का फल,' 'भाग्य की देन' या 'विधाता की इच्छा' कही गई जिन विवश परिस्थितियों का किसी व्यक्ति को सामना करना पड़ता है, वे वंशजात होती हैं, व्यक्ति की स्वेच्छा से परे। गर्भ में ही उनकी नींव पड़ जाती है। एक वंश के एक ही परिवार के लोगों में कुछ समानता निश्चय ही पाई जाती है। और, उसी परिवार में दो भाइयों में यही समानता कुछ और सीमा तक बढ़ जाती है। कदाचित् यदि भाई जुड़वाँ हों, तो उनके रूप-रंग, आचार-व्यवहार तथा कार्य-कलाप में भी यह समानता इतनी अधिक आ जाती है कि बिना किसी विशेष चिह्न के दोनों भाइयों को अलग-अलग पहचानना कठिन हो जाता है। यदि इन दोनों भाइयों का एक ही वातावरण में पालन-पोषण हो और शिक्षा भी एक ही-सी दी जाए तो उनका बौद्धिक विकास भी बिलकुल समान होता है।

मैसूर में ऐसे ही दो बच्चे थे। एक का पालन-पोषण मद्रास के सैंट मैरी कन्वेंट में हुआ था और दूसरे का अपने मामा के घर जो बंगलौर में इंजीनियर थे। दोनों के पालन-पोषण और शिक्षण में आकाश-पाताल का अन्तर था। एक तो ईसाई परिवार में पलता था, अंग्रेजी खाने-पीने उसे मिलते थे और दूसरा एक कट्टर शाकाहारी हिन्दू परिवार में। किन्तु फिर भी दोनों की आदतें समान थीं। शिक्षित होने पर दोनों का लेख मिलता-जुलता था। दोनों जिद्दी और अभिमानी बालक थे। दोनों के बीमार होने का समय भी करीब एक ही होता था। बारह वर्ष की आयु में कन्वेंट में रहनेवाले बालक को अपेंडिक का दर्द हुआ, तो लगभग उसी समय बंगलौर में रहने वाले जुड़वाँ भाई को भी तेज बुखार और पेट-दर्द की शिकायत रही।

अतः यद्यपि साधारण व्यक्ति के लिए किसी अपने ही नाम के व्यक्ति का मिलने के लिए आ जाना अधिक महत्त्वपूर्ण न हो, पर

अरुण जैसे मानव-समानताओं के अन्वेषक विद्यार्थी के लिए यह विधाता की रची बड़ी आश्चर्यपूर्ण और महत्वपूर्ण घटना थी। वह बार-बार उसी आगन्तुक के विषय में सोच रहा था। उसका विचार था अमेरिका में, इस देश में भी, शायद ही कोई ऐसा पहाड़ी भू-भाग होगा, जैसा कि उसकी अपनी जन्मभूमि में है। हो सकता है कि वहाँ भी कोई ऐसा कृषक परिवार हो, जैसे कि उसके माँ-बाप हैं और कोई ऐसा उसी जैसा उस कृषक परिवार का कुशाग्र विद्यार्थी भी हो, ठीक उसी की भाँति शिक्षा प्राप्त करके और ठीक उसी की भाँति मानव-समानताओं में अन्वेषण कर रहा हो और वही, उसी का प्रतिरूप, हो-न-हो उससे मिलने के लिए आया हो।

बैरे की बात रह-रह कर उसे स्मरण हो आती। 'वह आपसे ही मिलता-जुलता था।' और वह पुस्तक में उल्लिखित वाक्य को भी मन-ही-मन दुहराता कि—'समान वातावरण में, समान घटनाओं के मध्य, एक ही वंश के, समान जीवकोषों से उत्पन्न, जीवों में अद्भुत समानता पाई जाती है।'

अगले दिन अरुण को एक निकटवर्ती अस्पताल में कुछ मृत युग्म नमूनों को देखने जाना था और वहीं उस राज्य के सूचना-विभाग ने भारतीय विद्यार्थियों के लिए एक सांस्कृतिक-नृत्य का आयोजन किया था। वह अस्पताल उसके होटल से लगभग पचास मील की दूरी पर पहाड़ी प्रान्त में था। लगभग तीन घण्टे में मोटर वहाँ पहुँचती थी। दिन में एक बार हवाई जहाज से भी यात्रा की जा सकती थी, जिसमें केवल एक घण्टा लगता था।

उस दिन प्रातःकाल अरुण के दल के और लोग आ गए और वह उन्हीं के साथ उस अस्पताल को देखने लगा। मार्ग में मोटर राकी पर्वत की श्रेणियों में बसे हुए पहाड़ी प्रदेश को पार करती हुई चली जा रही थी। अरुण अपने ही जैसे पहाड़ी प्रदेश को देखने की अभिलाषा से बार-बार बाहर की ओर झाँक रहा था। मैदानी भू-भाग को छोड़कर मोटर पहले तो पहाड़ी भू-भाग के किनारे-किनारे चली और मोटर-सड़क के दोनों ओर पहाड़ियाँ पंख

फैलाए हुए बड़े-बड़े गिद्धों-सी दीखने लगीं, पर शीघ्र ही सड़क पर पहाड़ी प्रदेश के संकेत चिह्न दिखाई देने लगे। मोटर चक्करदार रास्तों से पहाड़ पर चढ़ने लगी। एक विशाल नदी पर लोहे का लाल-लाल पुल मिला और उसे पार करके फिर जो भू-भाग सम्मुख आया, वह उसके अपने पहाड़ी प्रदेश के मार्ग को जानेवाले मार्ग से बहुत कुछ मिलता था। सड़क के किनारे पानी—तरल, स्वच्छ, निर्मल जल तीव्र गति से कंकड़ों से खेलता बहता जा रहा था। बड़ी-बड़ी चट्टानें तोंद फुलाए पहाड़ पर यत्र-तत्र अटकी हुई सी दीख रही थीं। ज्योंही सड़क मुड़ती, एक घाटी का दृश्य सम्मुख आता और ताजी ठंडी हवा का झोंका आकर अरुण को आत्मविभोर कर देता। अब मैदानी भू-भाग दृष्टि से ओझल हो गया था और मोटर अब पहाड़ के ठीक मध्य में चक्कर काटती हुई चली जा रही थी। फिर घों-घों की आवाज़ हुई, ठीक वैसी ही आवाज़, जैसी कि पहाड़ पर चढ़ते समय भरी हुई मोटर उसके गाँव विजयपुर के निकट टीले पर चढ़ती हुई करती थी। बचपन से ही, जब से वह झल-तोला के प्राइमरी स्कूल में पढ़ने गया है और जब तक हाईस्कूल पास हुआ है, पूरे दस वर्ष उसके कान इस घों-घों शब्द से परिचित थे। ठीक तीन बजे मोटर डाक लेकर उसके स्कूल के सामने से गुजरती थी और मोटर के गुजर जाने के बाद आधे घण्टे में उसे छुट्टी हो जाती थी। आज राकी पर्वतों में चढ़ती हुई इस अमेरिकन मोटर के घों-घों शब्द से उसके हृदय में एक मीठी टीस-सी उठी और वह सोचने लगा—'ओ हो, पहाड़ कितने सुन्दर हैं, कितने मनोहर!'

मोटर के गेयर बदलने से धक्का-सा लगा। चढ़ाई समाप्त हो चुकी थी और मोटर एक प्याले की शक्ल की बड़ी-सी घाटी के किनारे पहुँच अब उसी प्याले की पेंदी के बीच जानेवाली थी। ऐसा सुन्दर दृश्य और ठीक उसी भाँति की पँखुड़ी की आकार की घाटी उसकी अपनी जन्मभूमि की भी है। कैसा अद्‌भुत सामंजस्य है। इस घाटी की बड़ी पेंदी को पार कर लोहावती की नदी और उसके उस पार उसका गाँव विजयपुर बसा हुआ है। गाँव के किनारे अखरोट के

पेड़ों के नीचे उसका अपना मकान है। गाँव के बिलकुल किनारे पानी के झरने के पास उसके बाप ने इस स्वच्छ स्थान में इस मकान को बनाया था। गाँव के उस पार एक टीले के आकार का पर्वत है, जिसके ऊपर गाँव की देवी काली माई का मन्दिर है। मन्दिर के किनारे खड़े होकर दो-ढाई सौ मील की परिधि में फैली हुई हिमाच्छादित हिमालय की चोटियाँ दीख पड़ती हैं। ज्योंही मोटर घाटी में उतरने लगी, अरुण का हृदय धक्-धक् करने लगा कि कहीं ऐसा न हो कि उसी का गाँव सम्मुख आ जाए और चिर परिचित ग्रामीण कृषक-कन्याएँ, उसकी भाभियाँ, दीदियाँ, चाचियाँ और ताइयाँ और अन्य रिश्तेदार उसे पहचान-पहचानकर पुकारने लगें—"कब आया रे तू, अच्छा तो है, आज वर्षों बाद गाँव लौटा। अब कितना और पढ़ेगा तू, पढ़ते-पढ़ते तो बूढ़ा हो चला?"

वह इन्हीं मीठे विचारों की जुगाली-सी ले रहा था कि मोटर एकाएक घाटी में उतर पड़ी। सचमुच इस घाटी में और उसकी जन्मभूमि चम्पावत की घाटी में, अद्भुत सामंजस्य था। फिर उसी के गाँव के समान वह टीला भी आ गया, जिसका चक्कर लगाकर मोटर आगे बढ़ रही थी। अरुण ने आँख उठाकर क्षितिज की ओर देखा। सचमुच आकाश में काले-काले पर्वतों के ऊपर पीछे हिमाच्छादित श्रेणियाँ कतार बाँधे खड़ी थीं। फिर वह ठीक अपने गाँव की ही भाँति बसे हुए एक गाँव के समीप से गुजरा। सामने नाला था। नाले के किनारे पनचक्कियाँ थीं। मोटर जब टीले का पूरा चक्कर लगा चुकी, तो अखरोट के पेड़ों का निकुंज भी आ गया और झरना भी। वह सोचने लगा, 'काश, मोटर यहाँ पर रुक जाती और वह देख सकता कि गाँव के उस कोने पर बसे हुए उस अकेले मकान में उसी के परिवार की भाँति का कोई परिवार रहता होगा।' मोटर ज्यों-ज्यों आगे बढ़ी, काले-काले पर्वत और उसके बाद वे खेत भी आ गए, जिनकी मेड़ें उसके बाप के खेत और उनके प्रतिद्वन्दी किसान टीकाराम के खेड़े से मिली थीं—जिन खेतों के बारे में उसके बाप और टीकाराम के बीच मुकदमेंबाजियाँ हुई थीं। फिर वह नाला भी आ

गया, जिसको पार करने के लिए थोड़ी-थोड़ी दूर पर पाँव कीचड़ से बचाने के लिए पथिकों ने ऊँचे-चपटे पत्थर डाल दिए थे, जिन्हें उसकी गाँव की भाषा में 'फटकन' कहते थे। 'फटकन' के उस पार चकमक की वह बड़ी चट्टान भी आ गई, जिस पर सूर्यास्त की किरणें टकराकर सारे नाले के पानी को अनेक रंगों से रंजित कर देती थीं और जहाँ बचपन में अकेले जाने से उसे डर लगता था।

प्रकृति के इस अद्भुत अप्रत्याशित दृश्य से आत्मविभोर हो अरुण ने आँखें मूँद लीं कि उसके साथी उसकी आँखों से बहते आँसुओं को न देख लें। उसने स्वप्न में भी विचार न किया था कि इसी दुनियाँ में हजारों मील दूर बसे हुए दो स्थानों में इतनी अधिक भौगोलिक समानता हो सकती है। ज्यों-ज्यों मोटर इस नई पहाड़ी पर चढ़ती गई वह गाँव पीछे दूर हटता गया। अरुण ने यही सोचकर सन्तोष कर लिया कि यदि कभी उसके गाँव विजयपुर के आगे उसी भाँति मोटर-सड़क बने, तो शायद उस मोटर पर यात्रा करते हुए उसका गाँव भी लगभग ऐसा ही दीखेगा, जैसा कि वह अमेरिकन गाँव इस दिशा से दीख रहा है।

अस्पताल को देखने के बाद अरुण उस उत्सव में सम्मिलित हुआ, जिसका आयोजन उस राज्य के सूचना-विभाग ने विदेशीय विद्यार्थियों के मनोरंजनार्थ किया था। सारा आयोजन बड़ा मनोरंजक था, किन्तु अरुण बार-बार यही सोच बैठता—"शायद मेरा वह प्रतिरूप इन्हीं आमोद-प्रमोदों के मध्य एकाएक मिल जाए। जिन कारणों और उपकरणों के वशीभूत होकर मैं इन लोगों के मध्य आ पहुँचा हूँ, उन्हीं के कारण वह भी निश्चय ही मेरे समान कहीं-न-कहीं ऐसे उत्सव में ही इस समय होगा। इसलिए कदाचित् ऐसा न हो कि वह इसी उत्सव में आमंत्रित व्यक्तियों में एकाएक उसे दीख पड़े।

लोकनृत्य के बीच जब उसका ध्यान एक ग्रामीण गीत की ओर लगा हुआ था, जिसकी लय उसी के पहाड़ी प्रदेश में गाए जाने वाले 'चांचरी' नामक गीतों से मिलती थी, तो एकाएक वह ठीक अपने ही

जैसे ध्यानावस्थित व्यक्ति को आमने-सामने बैठा देखकर, जो उसी प्रकार तन्मय था, एकाएक चौंक कर उससे मिलने के लिए उठा। उठते ही उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा, जब उसने देखा कि वह व्यक्ति भी उठकर उसी की ओर बढ़ता चला आ रहा है। पर दो ही क्षण पश्चात् जब उसे यह ज्ञात हुआ कि वह अलमारी पर लगे बड़े आइने में अपने ही प्रतिबिम्ब को देख रहा था, तो उसे अपनी मूर्खता पर लज्जा हुई और पहली बार उसे यह विचार आया कि शायद यह सब उसकी मृगतृष्णा हो। शायद जो कुछ उसने मोटर से देखा, वह सब उसी की विभ्रान्ति के कारण वैसा दीख पड़ रहा हो। शायद उसकी विफलता के कारण और उसके विचारों में मानव-यमलों की समानताओं की बातों के भरे रहने के कारण उसने जो कुछ देखा, वह सब भ्रम हो। पर अनायास उसका हाथ उसकी जेब में चला गया। वहाँ वह विजिटिंग कार्ड अब भी पड़ा हुआ था। उसे निकाल कर उसने फिर बिजली के लैम्प की रोशनी में देखा। कार्ड में अक्षरश: उसी का नाम था। ''सब कुछ भ्रम हो सकता है, पर यह कार्ड मिथ्या नहीं हो सकता, यह स्वप्न नहीं हो सकता। मेरा स्वानुरूप व्यक्ति अवश्य ही इस देश में है। उससे मिलना भी मेरे भाग्य में बदा है और यह मिलन विधाता का ही खेल है।'' एक बड़े भारी अन्वेषण के लिए कितनी सामग्री मेरे समक्ष आ रही है। मैं मेन्डेल या हाल्डेन से भी अधिक प्रसिद्ध अपने स्वानुरूप से मिलकर उसकी जीवन-चर्या का अध्ययन कर सकता हूँ।

लगभग एक सप्ताह बाद कई अन्वेषणशालाओं और प्रयोग-शालाओं को देखकर जब अरुण फिर अपने होटल में लौटा, तो उस पुराने बैरा के सम्मुख पड़ते ही अरुण ने पूछा—''क्या वह व्यक्ति मिलने के लिए आया था?''

''कौन व्यक्ति?'' बैरे ने पूछा, क्योंकि वह अब तक उस सम्बन्ध में भूल चुका था।

अरुण को झुंझलाहट हुई। वह उसे कैसे समझाए कि उसका तात्पर्य उसके प्रतिरूप से है, जो उस दिन उससे मिलने आया था

और अपना कार्ड छोड़ गया था । इसलिए उसने फिर पूछा—"मुझसे मिलने के लिए इस बीच कोई आया था ?"

वैरे ने कहा—"कुछ लोग जरूर आए थे और आपके लिए कुछ लिखकर छोड़ गए हैं ।"

अरुण ने अपने कमरे में जाकर सब पत्रों और मिलनेवालों के खतों को देखा, पर सामने स्वनाम व्यक्ति का न तो कोई खत था और न यही ज्ञात होता था कि वह उससे मिलने के लिए दुबारा आया है ।

छ: महीने के पश्चात् अरुण भारत लौटा । यह वही श्वेतकेतु नामक जहाज था, जिसमें उसने भारतवर्ष से जाते समय यात्रा की थी । इस जहाज के कर्मचारी उसके मित्र बन गए थे । स्वदेश की स्मृतियाँ अरुण के मस्तिष्क में जाग उठीं । अपने भाई, अपने माता-पिता के पास लौट आने में उसे हर्ष हो रहा था, किन्तु एक बात का दु:ख भी था कि वह अपने अमेरिका के प्रवास में एक काम को अधूरा ही छोड़ आया है, वह था उस अपने पर्वत प्रदेश के समान अमेरिकन भू-भाग की यात्रा करना और अपने ही नामधारी उस व्यक्ति से दुबारा मिलना । उसका कार्ड अब भी उसकी जेब में था । उसने निश्चय किया कि वह अपनी अगली यात्रा केवल इसी व्यक्ति से मिलने के लिए और इसी से सम्बन्धित अन्वेषणों में संलग्न होने के उद्देश्य से करेगा ।

दूसरे सप्ताह जब जहाज एक बन्दरगाह पर कोयला भरने के लिए रुका, तो अरुण अपने साथियों सहित उस शहर को देखने के लिए घूमने जा ही रहा था कि एक नाविक ने मुस्कराकर उसको अभिवादन किया । अरुण सोच रहा था, मैंने इसे पहले कहीं देखा है कि वह तरुण नाविक पहाड़ी भाषा में बोल उठा—"मैं आपसे मिलने के लिए उस होटल में गया था, जिसका पता आपने मुझे दिया था, पर आप मिले नहीं ।"

किंचित् देर सोचने के बाद अरुण को स्मरण हो आया कि पहली यात्रा में अमेरिका जाते हुए यह अनाथ लड़का अपने स्वामी की मृत्यु

के बाद रोता-बिलखता उसे जहाज पर मिला था और कहीं नौकरी की तलाश में था। उसे उस पर दया आ गई थी, इसलिए उसे अपने नाम का कार्ड देकर उस होटल में, जहाँ वह टिकने वाला था, उसे मिलने को कहा था।

नाविक अपनी वर्दी को गर्व से चमकाकर बोला--"उस समय मेरा मालिक इसी जहाज से यात्रा करते समय अचानक ही मर गया था और मैं बेकार था। समझ में नहीं आता था कि मैं क्या करूँ और कहाँ जाऊँ, पर जहाज के कप्तान ने मेरे ऊपर दया की और मुझे इसी जहाज में नौकरी दिला दी।"

वह विजिटिंग कार्ड अब भी अरुण की जेब में था। उसे बाहर निकालते हुए अरुण ने नाविक को दिखाकर कहा—"इसे तुम छोड़ आए थे उस होटल में?"

नाविक ने कहा—"आप ही ने तो यह मुझे दिया था।"

कार्ड को नोचकर समुद्र के जल में फेंकते हुए अरुण ने अपने नामधारी उस व्यक्ति को पाने के लिए जो कुछ अब तक किया और सोचा, उस पर वह मन-ही-मन मुस्कराने लगा।